CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

114

थेरवाद बौद्ध-धर्म में
योग और साधना

4536

मूलगंध कुटी विहार, धर्मपाल रोड, सारनाथ, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.4

थेरवाद
बौद्ध-धर्म में योग और साधना

लेखक :
डॉ० डी० रेवत् थेरो

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० 4536
दिनांक 3-8-99
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-5

मूलगंध कुटी, विहार
धर्मपाल रोड, सारनाथ, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :
डॉ० डी० रेवत थेरो
मूलगंध कुटी, विहार
धर्मपाल रोड, सारनाथ, वाराणसी

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ

सन् 1992

मूल्य रु० 100.00

मुद्रक :
सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस
एस. 1/208, नईबस्ती पाण्डेपुर, सारनाथ रोड
वाराणसी-2, फोन-43171

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय--सूची

1. पहला अध्याय

भारतीय योग-साधना का उद्भव एवं विकास 1–29

बौद्धभारत की धार्मिक स्थिति–3, पूरण कस्सप–5, मक्खलि गोशाल–6, अजित केसकम्बल–6, पकुध कच्चायन–7, संजय वेलट्ठपुत्त–7, निग्गण्ठ-नाटपुत्त–7, तीर्थंकरों की दार्शनिक विचारधारा–10, समीक्षा–12, आहार-शुद्धि–12, उदक-शुद्धि–12, यज्ञ-हवन–13, ब्रह्मसलोकता–13, आत्मा एवं लोक सम्बन्धी विभिन्न मत–13, तापस-जीवन–14, सम्यग् दृष्टि–23, सम्यक् संकल्प24, सम्यग् वाक्-25, सम्यक् कर्मान्त–25, सम्यग् आजीव–25, सम्यग् व्यायाम–26, सम्यक् स्मृति–27, सम्यक् समाधि–27।

2. दूसरा अध्याय

शिक्षात्रय एवं अधिशील शिक्षा 30–56

अष्टांगिक मार्ग का शिक्षात्रय में विभाजन–30, शिक्षात्रय का महत्व–32, शील–36, शील शब्द का अर्थ–37, शील के विविध प्रकार–37, योगी का चतुर्विध शील–38, प्रातिमोक्षसंवरशील–38, इन्द्रियसंवरशील–41, आजीवपारिशुद्धिशील–42, प्रत्ययसंनिश्रितशील–43, देशनाशुद्धि-संवर-शुद्धि-पर्येष्टिशुद्धि-प्रत्यवेक्षणशुद्धि–43, धुतांग–46, धुतांग का अर्थ 47, पांशु-कूलिकांग–48, त्रैचीवरिकांग–48, पिण्डपातिकांग–49, सापदान-चारिकांग–49, एकासनिकांग–50, पात्रपिण्डिकांग–50, खलुपच्छाभत्ति-कांग–51 आरण्यकांग–51, वृक्षमूलिकांग–52, अभ्यवकाशिकांग–52, श्मशानिकांग–53, यथासंस्थरिकांग–53, नैषद्यकांग–54।

3. तीसरा अध्याय

अधिचित्तशिक्षा एवं अधिप्रज्ञाशिक्षा 57–78

समाधि 57, समाधि के लिये नीवरण-प्रहाण का महत्त्व–58, प्रज्ञा तथा उसका अर्थ–60, शमथ (समाधि) एवं विपश्यना (प्रज्ञा) में भेद–63, समाधि के भेद–65,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकविध समाधि–65, द्विविध समाधि–65, उपचार समाधि-अर्पणा समाधि–66, लौकिक समाधि-लोकोत्तर समाधि–66, त्रिविध समाधि–67, हीन-मध्यम-प्रणीत–67, परित्र-महद्गत-अप्रमाण–68, चतुर्विध समाधि–68, प्रथम विकल्प–68, द्वितीय विकल्प–69, तृतीय-चतुर्थ-पंचम-षष्ठ विकल्प–70, पंचविध समाधि–70, प्रज्ञा के भेद–71, एकविध तथा द्विविध प्रज्ञा–72, लौकिक-लोकोत्तर–73, सास्रव-अनास्रव–72, नाम तथा रूप का विनिश्चय करने वाली प्रज्ञा–73, सौमनस्य सहगत-उपेक्षासहगत–73, दर्शनभूमि-भावनाभूमि–74, त्रिविध प्रज्ञा–74, चिन्ता-श्रुत-भावना तथा परित्रमहद्गत-अप्रमाण–74, आय-अपाय-उपाय-कौशल्य 75, आध्यात्म-वाह्य-आध्यात्मबाह्य–75, चतुर्विध प्रज्ञा–75।

4. चौथा अध्याय

शमथ-भावना-विधि 79–101

कर्मस्थान–79, दस कसिण–80, दस अनु-स्मृतियाँ–81, चार ब्रह्म-विहार–83, चार आरूप्य–84, आहार में प्रतिकूल संज्ञा तथा चतुर्धातु-व्यवस्थान–85, कर्मस्थान-ग्रहण-प्रक्रिया–87, दस विघ्नों कापरिहार–88, कर्मस्थानदायक कीसेवा–90, चर्या तथा चर्याप्रभेद–91, चर्यानिदान तथा चर्या-विनिश्चय–92, चर्यानुकूल कर्मस्थान–94, कर्मस्थान-भावना-विधि–97, अर्पणा समाधि में कुशलता के उपाय–98, वस्तु को स्वच्छ करना–99, इन्द्रियों को एक समान करना–99, निमित्त में कुशलता–99, चित्त का उत्थान एवं निग्रह करना–99, चित्त कासम्प्रहर्षण एवं उदासीन वृत्ति–100।

5. पाँचवाँ अध्याय

शमथ भावना की उपलब्धियाँ 102–125

आठ समापत्तियां–102, प्रथम ध्यान–103, वशिताएँ–106, आवर्जन–107, समावर्जन वशिता-107, अधिष्ठान वशिता, व्युत्थान वशिता, प्रत्यवेक्षण वशिता–108, द्वितीय ध्यान–109, तृतीय ध्यान–110, चतुर्थ ध्यान–112, चार अरूप-ध्यान–113, प्रथम आरूप्य ध्यान–114, द्वितीय आरूप्य ध्यान–115, तृतीय आरूप्य ध्यान–115, चतुर्थ आरूप्य ध्यान–116 चार आरूप्य ध्यानों में समानता एवं असमानता–118, समापत्तियों की प्राप्ति में समानता–119, अभिज्ञा–120, ऋद्धिविध–121,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिव्यश्रोत्र–122, परचित्त विजाजनज्ञान–123, पूर्वनिवासानुस्मृति– 23, दिव्यचक्षु–124,

6. छठाँ अध्याय

विपश्यना-भावना-विधि 126–141

दृष्टि-विशुद्धि–128, कांक्षावितरण-विशुद्धि–131, मार्गामार्गज्ञानदर्शन-विशुद्धि–132, प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि-134, उदयव्ययज्ञान–135, भंगज्ञान-135, भयज्ञान–136, आदीनवज्ञान तथा निर्वेदज्ञान–136, मुञ्चितुकम्यताज्ञान–137, प्रतिसंख्याज्ञान–137, संस्कारोपेक्षाज्ञान–138, अनुलोमज्ञान–139, ज्ञानदर्शन-विशुद्ध–139।

7. सातवाँ अध्याय

विपश्यना भावना की उपलब्धियाँ 142–153

संयोजन–143, कामरागसंयोजन–144, रूपराग-अरूपराग-पटिघ संयोजन–144, मान-दृष्टि-शीलव्रतपरामर्श संयोजन–145, विचिकित्सा-औद्धत्य संयोजन–146, अविद्यासंयोजन–146, स्रोतापत्ति मार्ग–147. स्त्रोतपत्ति-फल–148, सत्तक्खत्तुपरम पुद्गल–149, कोलंकोल-एकवीजी पुद्गल–149, सकृदागामीमार्ग-सकृदागामी फल–150, अनागामी मार्ग-अनागामी फल–151, अन्तरापरिनिव्यायी पुद्गल–151, उपहच्च परिनिब्बायी पुद्गल–151, असंखार-संसखार परिनिब्बायी पुद्गल–152, उद्धस्रोतो अकनिट्ठगामी पुद्गल–152. अर्हत् मार्ग-अर्हंत फल–152।

8. उपसंहार 154–161

9. आधार-ग्रन्थ सूची 162–166

10. संकेतसूची 167–168

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

सन् 1970 से सन् 1974 तक विद्योदय परिवेण में त्रिपिटकाचार्य उपाधि के लिये अध्ययन करते समय मैंने यह अनुभव किया कि भगवान् बुद्ध के अधिकांश उपदेशों का सम्बन्ध योग-साधना से है। त्रिपिटकाचार्य उपाधि को प्राप्त कर जब मै भारतवर्ष में आया तो मुझे सारनाथ में योग-साधना सम्बन्धी प्रशिक्षण देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रशिक्षण देते समय मेरे मन में विचार आया कि मुझे 'बौद्ध धर्म में योग साधना' विषय पर शोध कार्य करना चाहिये। मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डा० कोमलचन्द्र जैन के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की तथा उनसे प्रार्थना की कि वे मेरे निदेशक बनें। उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर स्थविरवादी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध धर्म में योग-साधना विषय पर मुझे शोध कार्य करने का निर्देश दिया।

भारतवर्ष में प्रचलित विभिन्न धर्मों में सांसारिक दुःखों के निवारण के उपायों पर अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला गया है। बौद्ध धर्म भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों में से एक है। उसमें भी सांसारिक दुःखों को नष्ट करने वाले मार्ग का विवेचन किया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम धार्मिक उपदेश में ही दुःखों के निवारणार्थ मध्यम प्रतिपदा की देशना की थी। उसे ही दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा या आर्य अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है।

भगवान् बुद्ध एवं उनके शिष्यों ने समय-समय पर जो उपदेश दिये हैं उनमें दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा—इन चार आर्यसत्यों का ही विवेचन प्रकट या अप्रकट रूप से निहित है। ये उपदेश सुत्तपिटक, विनयपिटक एवं अभिधम्मपिटक में संगृहीत हैं। जो उपदेश बातचीत के ढंग पर दिये गये हैं, उन्हें सुत्तपिटक में रखा गया है। इसी प्रकार भिक्षुओं के नियम-उपनियम से सम्बद्ध उपदेशों को विनयपिटक में तथा भगवान् बुद्ध का दर्शन उनके पारिभाषिक शब्दों में अभिधम्म-पिटक में निहित है। इन्हीं तीनों पिटकों को त्रिपिटक के रूप में ख्याति प्राप्त है।

त्रिपिटक के अध्ययन से विदित होता है कि बौद्ध धर्म में दुःख के निवारण का जो उपाय बताया गया है, वह नितान्त व्यावहारिक है। शुष्क तर्कों द्वारा अदृश्य सत्ता की व्याख्या करना भगवान् बुद्ध को अभीष्ट नहीं था। अतः भगवान् ने ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कह कर छोड़ दिया है जिनका सांसारिक दुःख निवृत्ति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। भगवान् बुद्ध ने कतिपय प्रश्नों का उत्तर इसलिये नहीं दिया था क्योंकि उनका मनुष्य के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसका कारण स्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् बुद्ध ने एक उपमा[1] द्वारा समझाया है। उपमा के अनुसार किसी आदमी को जहर से बुझा हुआ तीर लगा हो और उसके मित्र-रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जायें। उस स्थिति में अगर वह तीर से घायल व्यक्ति यह कहे कि मैं तब तक तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूं कि जिस आदमी ने मुझे तीर मारा है वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य या शूद्र है, उसका नाम तथा गोत्र क्या है, आदि। तो इस प्रकार की हठ करने वाले आदमी का उपचार नहीं हो सकेगा और वह यूं ही मर जायेगा। ठीक इसी प्रकार संसार के दुःखों को समझ कर उसे दूर करने के स्थान पर यदि मनुष्य अदृश्य तत्वों को समझने में ही भटकता रहेगा तो उसके दुःखों का अन्त सम्भव नहीं है। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायी भिक्षुओं को चार आर्य सत्यों का उपदेश देकर उन्हें सांसारिक दुःखों के निवारण हेतु उद्योग करने के लिये प्रेरित किया है।

बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्यों के दुःखों का प्रधान कारण रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्वरूप शरीर में आत्मा की दृष्टि रखना है। जब मनुष्य अपने अन्दर आत्मा की सत्ता को मानता है तो उसे तृष्णा होती है और यही तृष्णा दुःख का कारण होती है। जब मनुष्य आत्मभाव की मिथ्या-दृष्टि से मुक्त होता है तो उसके सभी सांसारिक बन्धन धीरे-धीरे समाप्त होते जाते हैं और अन्त में वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अर्हत् अवस्था में अपना जीवन-यापन करता है तथा मृत्यु के बाद अगले भव में जन्म नहीं लेता है। इस प्रकार उसका सांसारिक परिभ्रमण समाप्त हो जाता है।

कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो संसार में पैदा होने के बाद अधिक से अधिक सांसारिक विषयों का सुख भोगने में ही बुद्धिमानी समझते हैं। ऐसे मनुष्य अधिक से अधिक सुख लूटने के चक्कर में पड़कर अधिक से अधिक दुःख ही भोगते हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य का चित्त सांसारिक सुखों को इकट्ठा करने के लिए अत्यधिक चञ्चल होता है और चञ्चलता के चलते वह तरह-तरह के रोगों से पीड़ित होता है। यदि आत्म-भाव की धारणा को त्याग कर मन की चञ्चलता को नियंत्रित कर लिया जाये तो अनायास ही अनेक रोगों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इस समय विपश्यना-साधना का बहुत अधिक प्रचार हो रहा है। विपश्यना-शिविर में जाकर मनुष्य विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्ति पा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त विपश्यना के सम्बन्ध में अनेक लघु आकार की पुस्तकें भी प्रकाशित की जा रही हैं। इन पुस्तकों में विपश्यना-पद्धति, सतिपट्ठान विपश्यना, प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक् दृष्टि, विपश्यना (जर्नल) आदि प्रमुख हैं। इनमें सतिपट्ठान के आधार

---

1. म० नि० खण्ड 2, पृ० 110।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर विपश्यना की विधि समझायी गयी है। इगतपुरी में चलने वाले विपश्यना-शिविर तथा वहाँ से प्रकाशित होने वाले विपश्यना नामक पत्र से भी विपश्यना के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार की विपश्यना की साधना से निःसन्देह कतिपय शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का निवारण होना सम्भव है किन्तु यह सब बौद्ध धर्म की योग-साधना का एक अंश है। सच्चे बौद्ध योगी का यह कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम अपनी योग-साधना का आधार बनाये। शील बौद्ध योग-साधना का आधार है। शील-सम्पन्न योगी ही योग-साधना के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। शील-सम्पन्न हो जाने के बाद उसे उन विघ्नों का निवारण करना चाहिये जो चित्त की एकाग्रता को भङ्ग करते हैं। इन्हें ही नीवरण कहते हैं। जब शील-सम्पन्न भिक्षु अपने चित्त को एकाग्र करने में समर्थ हो जाता है, तभी वह विपश्यना की साधना कर अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

भगवान् बुद्ध के जितने भी उपदेश हैं, उनका सम्बन्ध शील, समाधि एवं प्रज्ञा से ही है। सभी उपदेशों का एक प्रबन्ध में समावेश करना न तो अभीष्ट है और न ही सम्भव। अतः इस प्रबन्ध के माध्यम से शील, समाधि तथा प्रज्ञा रूप बौद्ध योग-साधना को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिसे पढ़कर सामान्य जन भी उसे समझने में समर्थ हो सकें।

'बौद्ध धर्म में योग-साधना' नामक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बौद्ध धर्म के अनुसार चित्त की एकाग्रता के उपाय तथा उनकी उपलब्धियों का विवेचन किया गया है। चित्त की एकाग्रता रूप समाधि को प्राप्त करने के बाद आत्मदृष्टि का प्रहाण करना आवश्यक होता है। अतः इस प्रबन्ध में आत्मदृष्टि का प्रहाण कैसे किया जा सकता है और आत्म-दृष्टि प्रहाण से योगी सांसारिक बन्धनों को समाप्त कर किस प्रकार अर्हत्-अवस्था को प्राप्त करता है—इसका निरूपण किया गया है। चूंकि चित्त की एकाग्रता शील पर आधारित होती है। अतः प्रारम्भ में योगी के शील पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इस प्रबन्ध में शील, समाधि एवं प्रज्ञा का ही योग-साधना के प्रथम, मध्यम एवं अन्तिम सोपान के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

यह शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में भारतीय योग-साधना के उद्भव एवं विकास का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम वैदिक काल से लेकर भगवान् बुद्ध के समय तक के भारत के धार्मिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक काल में मनुष्य प्रकृति के अत्यधिक निकट था। वह धार्मिक कृत्य के रूप में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को विविध देवताओं के रूप में स्वीकार कर उनकी स्तुति तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिये यज्ञ करता था। उस समय प्राकृतिक विपदाओं से रक्षा तथा सांसारिक सम्पन्नता का अर्जन मनुष्य की धार्मिक क्रियाओं का एकमात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्य था। कालान्तर में यज्ञों को अधिक महत्व दिया जाने लगा और उन पर वर्ग विशेष के लोगों का आधिपत्य हो गया। इससे कुछ लोगों में क्रियाकाण्डों के प्रति अरूचि उत्पन्न होने लगी। फलतः उपनिषद् काल में सांसारिक समृद्धि की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को अच्छा समझा जाने लगा। उपनिषद् काल में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म और उसके साथ आत्मा के तादात्म्य के उपाय के रूप में योग-साधना का प्रारम्भ हुआ। भगवान् बुद्ध के समय तक सांसारिक आसक्तियों से मुक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की तपस्याओं को उत्तम माना जाने लगा था। इस अध्याय में तत्कालीन विभिन्न तपश्चर्याओं के चित्रण के साथ भगवान् बुद्ध द्वारा अन्वेषित मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया गया है।

दूसरे अध्याय में भगवान् बुद्ध की शिक्षा-त्रय पर संक्षेप में प्रकाश डाल कर अधिशील शिक्षा की विवेचना की गयी है। भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था उसे ही आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इसे शील, समाधि तथा प्रज्ञा में विभक्त किया गया है। बौद्ध धर्म की योग-साधना के यही तीन सोपान हैं। शील, समाधि एवं प्रज्ञा के क्रम पर विचार करते हुए उनके फलों को दिखाया गया है। तत्पश्चात् योग-साधना के लिये उपयोगी प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील नामक चार शीलों का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में शील के अच्छी तरह से परिचालन के लिये धुतांगों की उपयोगिता को वताते हुए तेरह धुतांगों का वर्णन किया गया है। योग-साधना के लिये आधारभूत अधिशील शिक्षा के व्यावहारिक महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

तीसरे अध्याय में अधिचित्तशिक्षा एवं अधिप्रज्ञाशिक्षा की विवेचना की गयी है। यहाँ अधिचित्तशिक्षा के माध्यम स समाधि तथा अधिप्रज्ञाशिक्षा के माध्यम से प्रज्ञा का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। नीवरणों के शमन से समाधि को शमथ तथा प्रज्ञा द्वारा विशेष दर्शन के कारण प्रज्ञा को विपश्यना के रूप में प्रतिपादित कर शमथ एवं विपश्यना के बीच विद्यमान भेद को दिखाया गया है। तत्पश्चात् समाधि एवं प्रज्ञा के विविध भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय में शमथ-भावना की विधि का प्ररूपण किया गया है। इस प्रसंग में विभिन्न कर्मस्थानों का उल्लेख कर उनके ग्रहण करने की प्रक्रिया की चर्चा की गयी है। कर्मस्थान ग्रहण करने के पूर्व दस परिहार्य वातों को वताते हुए कर्मस्थान-दायक के प्रति योगी के व्यवहार का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् चर्या की चर्चा के प्रसंग में चर्या-निदान तथा चर्या-विनिश्चय पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर चर्यानुकूल कर्मस्थान का उल्लेख कर कर्मस्थान की भावना-विधि की विवेचना की गयी है। उपचार एवं अर्पणा समाधि का उल्लेख कर अर्पणा समाधि में कुशलता-प्राप्ति के उपायों को भी दर्शाया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाँचवे अध्याय में शमथ-भावना की उपलब्धियों के रूप में आठ समापत्तियों का प्ररूपण किया गया है। प्रथम चार रूपध्यानों के प्रसंग में पाँच वशिताओं का उल्लेख कर उनके महत्त्व को दिखाया गया है। तत्पश्चात् चार आरूप्य ध्यानों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् चार आरूप्य ध्यानों में विद्यमान समानता एवं असमानता पर प्रकाश डाला गया है और तदनन्तर विभिन्न अभिज्ञाओं की उपलब्धियों की विवेचना की गयी है।

छठें अध्याय में विपश्यना-भावना की विधि की चर्चा की गयी है। इस प्रसंग में सात विशुद्धियों का उल्लेख कर दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञान-दर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि एवं ज्ञानदर्शनविशुद्धि—इन पाँच विशुद्धियों का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि के प्रसंग में उदयव्ययज्ञान, भंगज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान, मुञ्चितुकम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान तथा संस्कारोपेक्षा-ज्ञान—इन आठ ज्ञानों का प्रतिपादन कर अनुलोमज्ञान एवं गोत्रभू चित्त का स्वरूप बताया गया है। इस प्रकार इस अध्याय में योगी की साधना के उस क्रम का निरूपण किया गया है जिस क्रम से वह नाम-रूप धर्मों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभावों को समझ कर हृदयंगम करने में समर्थ होता है।

सातवें अध्याय में विपश्यना भावना की उपलब्धियों की चर्चा की गयी है। चूंकि विपश्यना-योगी का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् अवस्था को प्राप्त करना होता है। अतः इस अध्याय में अर्हत् पद की प्राप्ति के क्रम में स्रोतापत्तिमार्ग, स्रोतापत्तिफल, सकृदागामी मार्ग, सकृदागामी फल, अनागामीमार्ग, अनागामीफल तथा अर्हत् मार्ग का विवेचन किया गया है। चूंकि अर्हत् अवस्था तक पहुँचने में योगी दस संयोजनों का प्रहाण करता है। अतः इस अध्याय के प्रारम्भ में संयोजन का स्वरूप बताते हुए दस संयोजनों का विवेचन किया गया है। किस अवस्था में कौन-कौन से संयोजन समाप्त होते हैं तथा किन-किन संयोजनों के प्रहाण से क्या-क्या फल होता है—इसकी भी विवेचना इस अध्याय में की गयी है।

अन्त में उपसंहार के रूप में पूरे प्रबन्ध का सार प्रस्तुत कर बौद्ध धर्म में योग-साधना का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में मुझे शोध-कार्य में जिन विद्वानों एवं सहयोगियों की सहायता मिली, उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। सर्वप्रथम मैं अपने निदेशक डा० कोमलचन्द्र जैन का हृदय से आभारी हूँ, जिनके उचित मार्ग-निर्देशन से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। मैं महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया के महासचिव मापलगम विपुल-सार जी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने सदैव मुझे शोध-कार्य पूर्ण करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की प्रेरणा दी। इस प्रसंग में प्रो० प्रभाकर झा, श्री शंकर प्रसाद एवं श्री विजय कुमार मिश्र को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शोध कार्य करते समय मेरा उत्साह बढ़ाया। शोध प्रबन्ध के टंकण-कार्य के लिए मैं श्री नन्दलाल का भी आभारी हूँ।

अन्त में इतना कहना चाहूँगा कि प्रस्तुत प्रबन्ध को समुचित रूप देने के लिये मैंने हर सम्भव प्रयास किया है, फिर भी यदि कहीं कोई त्रुटि रह गयी हो तो विद्वज्जन उसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

डी० रेवत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र. सं. 4536
3-8-99
(का. हिं. वि. त्रि.) वाराणसी

पहला अध्याय

भारतीय योग-साधना का उद्भव एवं विकास

भारतीय संस्कृति अनेक प्रकार के आचार-विचारों का विकसित रूप है। यहाँ आचार एवं विचार से धर्म एवं दर्शन अभीष्ट है। भारत में अनेक धर्म एवं अनेक दर्शन विद्यमान रहे हैं। ये सभी धर्म एवं दर्शन मिलकर ही भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे शब्दों में अनेकता में एकता ही भारतीय संस्कृति है। इसकी पुष्टि उन तथ्यों से होती है जो सभी धर्मों तथा दर्शनों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे ही तथ्यों में एक है योग-साधना। योग-साधना को प्रत्येक भारतीय धर्म में महत्व प्रदान किया गया है। ऐसे किसी धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती है जिसमें योग-साधना को स्थान न दिया गया हो। धर्म का स्वरूप योग-साधना के माध्यम से ही सार्थक होता है। अन्य धर्मों की तरह बौद्ध धर्म में भी योग-साधना को प्रभूत महत्व प्राप्त है। बिना योग के व्यक्ति न तो समाधि की परिपूर्णता को प्राप्त कर सकता है और न ही प्रज्ञा को उपलब्ध कर सकता है।

योग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं जिनमें संयोग, सम्पर्क, युक्ति, उपाय, नियम, विधान, सूत्र, उपयुक्तता, वशीकरण, ध्यान, चित्तवृत्ति का निरोध, निर्वाण का उपाय आदि प्रमुख हैं।[1] इनमें से यहाँ योग का अर्थ है ध्यान अथवा चित्तवृत्ति का निरोध।[2] भारतीय धर्मों में योग को विशेष महत्व कब से प्रदान किया जाने लगा ? यह एक विचारणीय विषय है और इसके लिए भारत के धार्मिक इतिहास पर सरसरी तौर पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

भारतवर्ष में धर्म को प्राग्वैदिक काल से लेकर भगवान् बुद्ध के समय तक विभिन्न रूपों में अपनाया जाता रहा है। भारतीयों के धर्म के विषय में सुनिश्चित ज्ञान सर्वप्रथम वैदिक साहित्य से होता है जिसके अन्तर्गत वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषद् मुख्य रूप से आते हैं, और उसके बाद पालि-त्रिपिटक से होता है। पालि-त्रिपिटक एवं अन्य बौद्ध ग्रन्थों में एक ओर परम्परा से चले आ

---

1. (क) पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, (पृ० 558–559.)
   (ख) बृहद् हिन्दी कोश, (पृ० 1123.)
2. (क) योगो संगे च कामारो ज्ञानोपायेसु युत्तियं। अभिधा०, (पृ० 145.)
   (ख) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पात० योगदर्शन (1.2)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहे वैदिक धर्म के विभिन्न रूपों की जानकारी प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर श्रमण परम्परा में मान्य योग-साधना की भी स्थिति स्पष्ट होती है।

वेदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस समय मनुष्य प्रकृति के अत्यधिक निकट था। उस समय मनुष्य जिन विभिन्न देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास करता था उनमें अधिकांश प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक थे। इस प्रकार देवताओं की स्तुति के बहाने वे (प्रकृति-पूजक) प्राकृतिक आपदाओं से अपनी रक्षा की कामना करते थे।[1] उनका विश्वास था कि प्राकृतिक विपदाओं से उनका सर्वनाश हो सकता है, अत उन्हें टालने के लिए वे वरुण, पूषन्, उषा, आपः, अग्नि आदि देवताओं की स्तुति करते थे।[2] इसके अतिरिक्त देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा भी की जाती थी। यज्ञ में देवताओं को दूध, अन्न, घी आदि की आहुतियाँ दी जाती थीं। मनुष्यों का यह भी विश्वास था कि आहुति देने से देवता प्रसन्न होते हैं और मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार वैदिक काल में धर्म का प्रधान उद्देश्य लौकिक सुखों को प्राप्त करना था। मनुष्य युद्ध में विजय, अच्छी खेती, सन्तान की प्राप्ति आदि के लिए देवताओं की स्तुति एवं यज्ञ से उपासना करते थे।[3]

ब्राह्मण काल में देवों की संस्तुति की अपेक्षा यज्ञ को अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा। इसके साथ ही यज्ञ सम्पन्न कराने का अधिकार एक वर्ग विशेष के हाथों में चला गया। पुरोहितों ने यज्ञ की क्रिया को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया। उनके अनुसार उचित ढंग से सम्पन्न यज्ञ के कारण देवताओं को भी इच्छा न होने पर भी कार्य करना होता था। इस प्रकार ब्राह्मण काल में न केवल यज्ञ सम्बन्धी क्रिया-काण्डों में जटिलता आ गई अपितु यज्ञ-विधि पर ब्राह्मण-वर्ग का एकाधिकार हो गया।[4]

कालान्तर में धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों के यज्ञ सम्बन्धी क्रिया-काण्डों के प्रति लोगों में अरूचि उत्पन्न होने लगी और बाह्य स्वार्थ की सिद्धि की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इस काल में उपनिषद्-साहित्य में वर्णित परमतत्व ब्रह्म और उसके साथ आत्मा के तादात्म्य के उपाय के रूप में योग-साधना का प्रारम्भ हुआ। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि में आत्मा या

---

1. प्राचीन भारत (डा० राजबली पाण्डेय), (पृ० 69.)
2. प्राचीन भारत की संस्कृति, (पृ० 357.)
3. वही, (पृ० 358)
4. (क) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, भूमिका, (पृ० 17.)
   (ख) प्राचीन भारत (डा० राजबली पाण्डेय), (पृ० 78.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रतिभासित होता है, वह माया है। जब आत्मा माया के संसर्ग में आती है तो उसे प्रेय वस्तुएँ अच्छी प्रतीत होती हैं और वह श्रेय से विमुख रहता है। फलस्वरूप वह संसार में भटकता रहता है।[1] प्रेय वस्तु से चित्तवृत्ति का निरोध करके ही श्रेय की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है और माया के वन्धन को तोड़कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जो व्यक्ति यज्ञ-कर्म को श्रेयस्कर मानकर उन्हें करता है, वह जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।[2]

इस प्रकार उपनिषदों में एक ओर वैदिक साहित्य में वर्णित यज्ञादि का विरोध किया गया है तो दूसरी ओर मायामय संसार से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि वह वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है। कुछ लोग कहते है कि चूंकि वैदिक साहित्य के क्रिया-काण्डों का उपनिषदों में अन्त होता है, अतः उसे वेदान्त कहा जाता है।[3] जो कुछ भी हो विद्वानों ने इसी उपनिषद् साहित्य में वर्णित विचारों को ही बौद्ध धर्म की योग-साधना का मूलाधार माना है।[4] बौद्ध धर्म में एक ओर उपनिषद् साहित्य में वर्णित नित्य आत्मा का खण्डन किया है तो दूसरी ओर अविद्या-जन्य संसार - चक्र को समाप्त करने के लिए योग-साधना को महत्व दिया है।

बौद्ध-भारत की धार्मिक स्थिति

पालि-त्रिपिटक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध के समय वैदिक कालीन यज्ञों का प्रचलन तो था ही[5], दूसरी ओर आत्मा और ब्रह्म के

---

1. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव
   प्रेयस्ते उभे नानार्थे विनीतः।
   तयोः श्रेय आददानस्य साधु
   भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।। कठो० (1.2.1)
2. प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तभवरं येषु कर्म।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढाः जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ।। (मुण्ड० 1.2.7)
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, भूमिका, (पृ० 19.)
4. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, (पृ० 68.)
5. (क) तेन खो पन समयेन कूटदन्तस्स ब्राह्मणस्स महायञ्ञो उपक्खटो होति।
   (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 109.)
   (ख) सो एवमाह—एत्तका उसभा हञ्ञन्तु यञ्ञत्थाय··· ···· ···· ····।
   (म० नि० खण्ड 2, पृ० 9.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तादात्म्य सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रति भी बड़ी जिज्ञासा थी।[1] यज्ञों के रूप में ऐसे-ऐसे यज्ञों का वर्णन मिलता है जिनमें न केवल बहुत से प्राणियों की वलि दी जाती थी अपितु जिनमें प्रभूत धन का व्यय भी होता था। इसके अतिरिक्त उन यज्ञों को कराने में विभिन्न वर्गों के लोगों को तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते थे।[2] आत्म-चिन्तन भी अपनी चरम सीमा पर था। ब्रह्मजालसूत्र से यह विदित होता है कि उस समय जन्म से पहले और मरने के बाद की स्थिति को लेकर अनेक प्रकार के मत थे।[3] उस समय लोक एवं आत्मा के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बुद्धिजीवी-वर्ग व्याकुल रहता था। यदि कदाचित् यह ज्ञात होता था कि अमुक व्यक्ति से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है तो जिज्ञासु पुरुष उस व्यक्ति के पास अवश्य पहुँचता था।[4]

जनसाधारण के मानस-पटल पर यह बात अच्छी तरह से अंकित हो चुकी थी कि संसार एवं आत्मा सम्बन्धी ज्ञान के लिए तपस्या तथा उससे उत्पन्न होने वाला ध्यान आवश्यक है। यही कारण था कि अगर कोई व्यक्ति तपस्वी के रूप में समाज में जाता था तो उसकी अत्यधिक पूजा होती थी। इस प्रसंग में बुद्ध के समय ख्याति प्राप्त छः तीर्थंकरों का विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। इन छः तीर्थंकरों के नाम हैं --पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बल, पकुध कच्चायन, निगण्ठ नाटपुत्र तथा संजय वेलट्ठपुत्त। ये सभी श्रमण-परम्परा के थे। श्रमण शब्द 'श्रम' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है --परिश्रम करना। श्रमण यह परिश्रम तपस्या के रूप में करता है। इन छः तीर्थंकरों के विषय में

---

1. दी० नि० खण्ड 1, पृ० 200–201.
2. ये पिस्स ते होन्ति दासा ति वा पेस्सा ति वा कम्मकरा ति वा ते।
   पि दण्डतज्जिता भयतज्जिता अस्सुमुखा रुदमाना परिकम्मानि करोन्ति॥
   म० नि० खण्ड 2, पृ० 419.
3. इमेहि खो ते, भिक्खवे, समणब्राह्मणा पुब्बन्तकप्पिका च अपरन्तकप्पिका च पुब्बन्तापरन्तकप्पिका चापुब्बन्तापरन्तानुदिट्ठिनो पुब्बन्तापरन्तं आरब्भ अनेकविहितानि अधिमुत्तिपदानि अभिवदन्ति द्वासट्ठिया वत्थूहि।
   (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 34.)
4. (क) ...' सोणदण्डोभो ब्राह्मणो एवमाह-आगमेन्तु किर भवन्तो, सोणदण्डो पि ब्राह्मणो समणं गोतमं दस्सनाय उपसंकमिस्सतीति।
   (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 98.)
   (ख) कच्चि नु त्वं, आवुसो, अमतं अधिगतो ति ?....गच्छाम मयं, आवुसो भगवतो सन्तिके, सो नो भगवा सत्था। (महावग्गो, पृ० 40–41.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा गया है कि "वे संघी थे, गणी थे, गणाचार्य थे, विख्यात थे, यशस्वी थे, तीर्थंकर थे, समाज में साधु समझे जाते थे, अनुभवी थे, वहुत समय से प्रव्रजित थे, उन्होंने बहुत कुछ देखा था तथा वे आयु में बड़े थे।[1]

समाज में तीर्थंकरों की पूर्वोक्त कीर्ति से यह स्पष्ट होता है कि समाज के लोग उन्हें पर्याप्त सम्मान देते थे। अब यह देखना है कि उक्त तीर्थंकरों का आचार-विचार क्या था जिसके कारण उन्हें समाज के लोग सम्मान देते थे। उनमें से कुछ तीर्थंकरों के विषय में सुमंगलविलासिनी में महत्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध होती हैं जो इस प्रकार हैं—

पूरण कस्सप

यह एक कुल में दासपुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ था। इससे पूर्व उस कुल में 99 दास थे और इसके उत्पन्न होते ही कुल के दासों की संख्या 100 हो गयी थी। अतः 100 संख्या के पूर्ण होने के कारण इसका नाम पूरण रखा गया। कस्सप इसके गोत्र का नाम था। अपने को दासता से मुक्त करने के लिए यह उस कुल से भाग गया। रास्ते में चोरों ने इसके कपड़े छीन लिए थे जिससे वह नग्न हो गया था। चूँकि वह तृणों या पत्तों से अपने शरीर को ढँकना नहीं जानता था, अतः उसने नग्नवेश में ही एक ग्राम में प्रवेश किया। उसके नग्न वेश को देखकर ग्रामवासियों ने उसे सन्तोषी अर्हत् समझा और उसका भोजन आदि के द्वारा सत्कार-सम्मान किया। पूरण कस्सप ने भी अपने सत्कार-सम्मान में नग्न रूप को ही प्रधान कारण जानकर भविष्य में भी नग्न ही रहने का संकल्प कर लिया। अपनी नग्नता के विषय में पूछे जाने पर वह कहता था कि जो पापी होता है वह लज्जावश कपड़े धारण करता है। चूँकि मैं पाप रहित हूँ, अतः मुझें लज्जा नहीं है और न ही कपड़े धारण करने की आवश्यकता है। उसके बाद उसने प्रव्रज्या ग्रहण की। तत्पश्चात् उसको आचार्य मानकर उससे पाँच सौ लोगों ने प्रव्रज्या ग्रहण की।[2]

---

1. अयं, देव, पूरणो कस्सपो······मक्खलि गोसालो······अजितो केसकम्बलो ·····पकुधो कच्चायनो····· संजयो वेलट्ठपुत्तो·· ···निगण्ठो नाटपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुपत्तो। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 41–42.)

2. तत्थ पूरणोति तस्स सत्थुपटिञ्ञस्स नामं। कस्सपोति गोत्तं। सो किर अञ्ञतरस्स कुलस्स एकूनदाससतं पूरयमानो जातो तेनस्स पूरणो ति नामं अंकुंस।·····सो किमहं एत्थ वसामी ति पलायि। अथस्स चोरा वत्थानि अच्छिन्दिसु। सो···जातरूपेनेव एकं गामं पाविसि। मनुस्सा तं दिस्वा अयं समणो अरहा अप्पिच्छो, नत्थि इमिना सदिसो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मक्खलि गोसाल

इनकी माता एक कुल में दासी थी। अपने स्वामी से कुपित हो जाने पर वह एक गोशाला में रहने लगी थीं। वहीं जन्म होने के कारण इन्हें गोसाल कहा जाने लगा। जब गोसाल बड़ा हुआ तो उसके स्वामी ने कीचड़-मुक्त जमीन पर तेल का घट देकर गिराना मत (माखलि) का निर्देश दिया। तत्पश्चात् स्वामी के भय से वह भागा। स्वामी ने भी उसका पीछा किया और उसके कपड़े पकड़ में आ गये। गोसाल कपड़ों को छोड़कर नग्नावस्था में ही भाग गया। किसी ग्राम में पहुँचने पर लोगों ने उसे सन्तोषी अर्हत् समझकर पूरण कस्सप जैसा ही सत्कार किया।[1]

मक्खलि गोसाल आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक थे। जेतवन के पीछे आजीविकों का एक स्थान था। वे पंचाग्नि तापते थे, उकड़ूँ बैठते थे और चमगादड़ की भाँति हवा में झूलते थे। पालि-त्रिपिटक में इनके आचार को मुक्ताचार कहा गया है।[2] एक जगह इन्हें उस माता का पुत्र बताया गया है जिसके पुत्र मर जाते हैं।[3]

अजित केसकम्बल

इनका नाम अजित था। चूँकि ये केशों का कम्बल धारण करते थे अतः इन्हें केशकम्बल कहा जाता था। उनका कम्बल किसी पशुविशेष के केशों से निर्मित न होकर मनुष्यों के केशों से बना होता था जो कि अत्यन्त निकृष्ट माना जाता था।[4] इसके अनेक कारण थे, जैसे—मनुष्यों के केशों से निर्मित कम्बल

ति पुब्बभत्तादीनि गहेत्वा उपसंकमन्ति। सो मय्हं साटकं अनिवत्थभावेन इदं उप्पन्नं ति ततो पट्ठाय साटकं लभित्वा पि न निवासेसि।······तस्स सन्तिके अञ्ञेपि पंचसतमनुस्सा पब्बजिंसु। (सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 162–63.)

1. एत्थ पन मक्खली ति तस्स नामं। गोसालाय जातत्ता गोसालो ति दुतियं नामं।····· सो पमादेन खलित्वा पतित्वा सामिकस्स भयेन पलायितुं आरद्धो। ··· सो साटकं छड्डेत्वा अचेलको हुत्वा पलायि। सेसं पूरणसदिसमेव। (वही, पृ० 164)
2. म० नि० खण्ड 1, पृ० 109–110 तथा बौद्ध धर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव) (पृ० 4.)
3. पुत्तमताय पुत्ता। (म० नि० खण्ड 2, पृ० 223.)
4. अजितो ति तस्स नामं। केसकम्बलं धारेती ति केसकम्बलो। तत्थ केसकम्बलं नाम मनुस्सकेसेहि कतकम्बलो। (सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 164.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाड़े में शीत, गर्मी में गर्म, देखने में खराब तथा दुर्गन्ध से युक्त होता था।[1] चूँकि ये पूर्वोक्त कम्बल को धारण कर कठिन तपस्या करते थे, अतः ये समाज में अपनी अलग पहचान बनाये हुये थे।

पकुध कच्चायन

इनका नाम पकुध था तथा गोत्र कच्चायन, अतः इन्हें पकुध कच्चायन कहते थे। पकुध नामकरण के पीछे भी एक घटना जुड़ी हुई है। ये दरिद्र कुल की एक विधवा की कोख से उत्पन्न हुए थे। चूँकि उस विधवा ने ककुध वृक्ष के नीचे इन्हें जन्म दिया था, अतः ककुध वृक्ष की शाखा के रूप में इनका नाम पकुध पड़ गया था। एक ब्राह्मण ने अपने घर में लाकर इनका पालन-पोषण किया। किन्तु जब ब्राह्मण मर गया तो इन्होंने अपने को असहाय समझकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी।[2] इनकी तपस्या की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये शीतल जल का सेवन नहीं करते थे। यहाँ तक कि शौचादि में भी उष्ण जल का ही सेवन करते थे। नदी-नाला पार करते समय ये पानी के ऊपर बालू का रास्ता बनाकर उस पर से पार करते थे। ऐसा करते समय वे यह मानते थे कि उन्होंने शील का पालन किया है।[2]

संजय बेलट्ठपुत्त

संजय इनका नाम था तथा बेलट्ठ नामक दास का पुत्र होने के कारण इन्हें बेलट्ठपुत्त कहा जाता था। इनका संजय नाम इसलिए पड़ा क्योंकि इनके मस्तिष्क पर संज के समान आकार विशेष था।[3]

निगण्ठ नाटपुत्त

इनके जीवन के विषय में सुमंगलविलासिनी में विशेष कुछ नहीं मिलता है। वहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि चूँकि ये यह कहते थे कि हमारे अन्दर

---

1. ···यानि कानिचि तन्तावुतानं वत्थानं, केसकम्बलो तेसं पटिकिट्ठो अक्खायति। केसकम्बलो, भिक्खवे, सीते सीतो···दुक्खसम्फस्सो। (अ० नि० खण्ड 1, पृ० 264.)

2-2. पकुधो ति तस्स नामं। कच्चायनो ति गोत्तं सीतुदकपटिक्खित्तको एस। वच्चं कत्वा पि उदककिच्चं न करोति ··नदिं वा मग्गोदकं वा अतिक्कम्म सीलं मे भिन्नं ति वालिकथूपं कत्वा सीलं अधिट्ठाय गच्छति। (सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 164.)

3. वही, (पृ० 165 तथा बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० 83.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्लेश रूपी गाँठ नहीं है, अतः इन्हें निगण्ठ कहा जाता था। ये नाट (ज्ञातृ) पुत्र थे, अतः इन्हें नाटपुत्त कहा जाता था।[1]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि निगण्ठ नाटपुत्त जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का ही नाम है तथा जैनागमों में उनके विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। चूँकि पालि-त्रिपिटक में निगण्ठ नाटपुत्त के उल्लेख अनेक स्थलों पर आये हैं[2], अतः यहाँ जैन ग्रन्थों के आधार पर उनके जीवनचरित का संक्षिप्त विवरण देना समुचित प्रतीत होता है।

जैनागमों पर आधारित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के उत्तर में स्थित कुण्डपुर में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा थे और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छविवंशी राजा चेटक की पुत्री थीं।[3] उनका पैतृक गोत्र नात, नाट (संस्कृत ज्ञातृ) था। माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने के वाद उन्होंने घर-वार त्याग दिया। बारह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उन्हें सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्ष सर्वज्ञ के रूप में व्यतीत किये। तत्पश्चात कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन वे निर्वाण को प्राप्त हुए।[4]

दीर्घनिकाय के सामञ्जफलसुत्त से विदित होता है कि वे चातुर्याम संवर के उपदेशक थे। ये चार संवर इस प्रकार है—जल के व्यवहार का वारण करना, सभी पापों का वारण करना, सभी पापों के वारण से धुतपाप होना तथा सभी पापों के वारण में लगा रहना।[5] जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि भगवान महावीर के दो सौ पचास वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ हुए थे। इन्होंने ही चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया था। ये चातुर्याम (प्राकृत में चाउज्जाम) हैं—सर्व प्राणातिक्रम से विरमण, सर्व मृषावाद से विरमण, सर्व अदत्तादान से विरमण तथा सर्व

---

1. अम्हाकं गण्ठनकिलेसो पलिबन्धनकिलेसो नत्थि,' किलेसगण्ठरहिता मयं ति एवंवादिताय लद्धनामवसेन निगण्ठो नाटस्स पुत्तो नाटपुत्तो। (सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 165)
2. (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 42, 50; म० नि० खण्ड 1, पृ० 248, 308; खण्ड 2, पृ० 43–45, 49, 55, 67, 225, 257; खण्ड 3, पृ० 6, 37 आदि।)
3. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, (पृ० 22.)
4. (क) जैन धर्म-दर्शन, (पृ० 12–14.)
   (ख) निगण्ठोनाटपुत्तो सब्बञ्ञूसब्बदस्सावी। (म० नि० खण्ड 3, पृ० 6.)
5. इध, महाराज, निगण्ठो चातुर्यामसंवरसंवुतो होति······सब्बवारि-वारितो च होति सब्बवारियुतो च सब्बवारिधुतो च सब्बवारिफुटो च। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 50.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहिस्थादान से विरमण। भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट उक्त चातुर्याम धर्म भगवान महावीर के समय में भी प्रचलित था तथा भगवान् महावीर के माता-पिता उस चातुर्याम धर्म के अनुयायी थे। भगवान् महावीर ने चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य नामक एक व्रत और जोड़कर पाँच व्रतों का उपदेश दिया था।[1]

उत्तराध्ययनसूत्र से यह स्पष्ट होता है कि पार्श्वनाथ और महावीर के बीच दो प्रकार के मतभेद प्रमुख थे —प्रथम का सम्बन्ध व्रतों से था और दूसरे का वस्त्रों से। पार्श्वनाथ ने चार व्रतों का उपदेश दिया था जबकि महावीर ने पाँच व्रतों का।[2] पार्श्वनाथ ने साधुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति दी थी जबकि महावीर ने वस्त्र धारण का निषेध किया था।[3] भगवान् बुद्ध के समय दोनों ही महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट धर्म का प्रचलन था।

इस प्रसंग में यह कहना अनुचित न होगा कि दीर्घनिकाय में निगण्ठ नाटपुत्त के जिस चातुर्याम संवर का उल्लेख मिलता है, उसका सम्बन्ध भगवान् महावीर के धर्म से न होकर पार्श्वनाथ् की परम्परा से होना चाहिये। इसके साथ ही चातुर्याम संवर में जिन चार संवरों का उल्लेख दीर्घनिकाय में है, वह निश्चित रूप से जैनागमों से मेल नहीं खाता है। यहाँ जैनागमों में वर्णित चातुर्याम को ही प्रामाणिक मानना चाहिये। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में जो संघ सम्बन्धी उपोसथ, वर्षावास आदि की व्यवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं, वे सभी पार्श्वनाथ की परम्परा में भी विहित थीं।[4]

जैन-परम्परा में मुनियों के लिए अट्ठाईस मूल गुणों का विधान किया गया है। इनमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों को वश में रखना, छः आवश्यक क्रियाएँ तथा सात प्रकार की विशिष्ट साधनाएँ समाविष्ट हैं। सात प्रकार की विशिष्ट साधनाएँ इस प्रकार हैं —समय-समय पर अपने हाथों के केश-लौंच करना, नग्न रहना, स्नान न करना, खड़े रह कर आहार ग्रहण करना तथा दोपहर तक एक बार भोजन करना।[5] मज्झिमनिकाय से इस बात की पुष्टि

1. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (पृ० 21–22.)
2. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
   देसिओ वद्धमाणेणं पासेण य महामुणी ॥ (उत्तरा० 23.12)
3. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरूत्तरो।
   एककज्जपवन्नाणं विसेस किन्नुकारणं ॥ (वही, 23·13)
4. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, (पृ० 22.)
5. वही, (पृ० 266.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है कि बुद्ध के समय कठिन तपस्या में उक्त सात प्रकार की साधनाओं का भी प्रचलन था।[1] मज्झिमनिकाय के ही देवदहसुत्त से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय निगण्ठ अपने पूर्वकृत कर्मों के क्षय के लिए इन कठोर तपश्चर्याओं को करते थे।[2] इस प्रकार की कठिन तपस्याओं का प्रभाव जन-सामान्य पर बहुत अधिक पड़ता था क्योंकि जन-सामान्य कठिन से कठिन तपस्या करने वाले को अधिक से अधिक सम्मान देता था।

तीर्थंकरों की दार्शनिक विचार-धारा

यहाँ पर उक्त छः तीर्थंकरों की विचारधाराओं को प्रस्तुत करना समुचित प्रतीत होता है। कारण, उससे तत्कालीन योग-साधना का स्वरूप स्पष्ट होगा।

पूरण कस्सप अक्रियावाद के प्रचारक थे। उनके मतानुसार संसार में न तो पाप है और न ही पुण्य। मनुष्य यदि हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, परस्त्री गमन आदि कर्म करे अथवा करवाये तो भी उसे उन कार्यों से पाप नहीं होता है और यदि मनुष्य दान, दम, संयम आदि गुणों से युक्त हो तथा सत्य बोले तो भी उसे पुण्य का लाभ नहीं होता है।[3]

मक्खलि गोसाल नियतिवादी का प्रचारक था। उसके मतानुसार प्राणियों के सांसारिक दुःखों का कोई कारण नहीं होता है और न ही सांसारिक दुःखों से मुक्ति का कोई कारण होता है। प्राणी का संसार में परिभ्रमण एवं विशुद्धि दोनों ही अकारण होती हैं। चाहे मूर्ख हो या पण्डित, सभी प्राणी चौरासी हजार महाकल्प व्यतीत कर दुःख का अन्त करेंगे।[4] गोसाल कैसे नियतिवाद का घोर समर्थक बन गया—इस विषय में भगवती सूत्र नामक जैनागम में कथा आयी है। उसके

1· म० नि० खण्ड 1, पृ० 1८0-110

2. पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा...

(म० नि० खण्ड 3, पृ० 4.)

3 एवं वुत्ते, भन्ते, पूरणो कस्सपो मं एतदवोच—करोतो खो···पाणमतिपातापयतो अदिन्नं आदियतो · परदारं गच्छतो मुसा भणतो करोतो न रीयति पापं।·· उत्तरं चे पि गंगाय तीरं गच्छेय्य ददन्तो दापेन्तो यजन्तो यजापेन्तो, नत्थि ततोनिदानं पुञ्ञं··· (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 46.)

4. नत्थि, महाराज, हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं संकिलेसाय···नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धया।···चुल्लासीति महाकप्पिनो सतसनस्सानि यानि बाले च पण्डिते च सन्धावित्वां संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करस्सन्ति। (वही, पृ० 46-47.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुसार एक बार गोसाल ने एक तिल के पौधे को देखकर भगवान् महावीर से पूछा कि भगवन् ! यह तिल का पौधा फलेगा या नहीं और ये सात तिलपुष्प के जीव मर कर कहाँ उत्पन्न होंगे । भगवान् महावीर ने कहा कि यह तिल का पौधा फलेगा और ये सात तिलपुष्प के जीव मर कर इसी तिल के पौधे की एक फली में सात तिलों के रूप में होंगे, महावीर को झूठा सिद्ध करने के लिए यद्यपि गोसाल ने उस तिल के पौधे को उखाड़ कर फेंक दिया किन्तु वर्षा में वह तिल का पौधा जम गया और एक फली में सात तिल हुए । यह देखकर गोसाल नियति-वाद का घोर समर्थक वन गया था ।[1]

अजित केसकम्बल अच्छेदवाद का प्रचारक था। उसके मतानुसार दान, यज्ञ, होम आदि नहीं हैं। दान आदि पुण्य कर्मों का न तो अच्छा फल है और न ही हिंसा आदि पाप कर्मों का बुरा फल। मनुष्य चार महाभूतों से वना है। जब मनुष्य मरता है तो पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु अपने-अपने महाभूतों में विलीन हो जाते हैं और इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं। मूर्ख और पण्डित दोनों ही मरने के बाद किसी भी रूप में नहीं रहते हैं।[2]

पकुध कच्चायन अकृततावाद का प्रचारक था। उसके मतानुसार जगत् में सात पदार्थों की सत्ता है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव। ये सभी तत्व किसी भी तरह विकार को प्राप्त नहीं होते हैं। यहाँ न कोई मारने वाला है, न हनन करने वाला। अतः शस्त्र से मारने पर भी हिंसा इसलिए नहीं होती है क्योंकि वह शस्त्र सात तत्वों पर न गिरकर खाली जगह पर गिरता है।[3]

संजय वेलट्ठपुत्त अनिश्चयवाद का प्रचारक था। उसके मतानुसार परलोक, देवता, अच्छे या बुरे कर्म का फल आदि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि परलोक आदि हैं या नहीं हैं—इस विषय में वह निश्चित रूप से नहीं जानता है।[4]

---

1. जैन धर्म-दर्शन, (पृ० 33-34.)
2. नत्थि, महाराज, दिन्नं,नत्थि यिट्ठं,नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको तेसं तुच्छं मुसा विलापो ये केचि अत्थिकवादं वदन्ति। बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सन्ति, न होन्ति परं मरणा ति। (दी०नि० खण्ड 1, पृ०48.)
3. सत्तिमे, महाराज, काया अकटा अकटविद्या—तत्थ नत्थि हन्ता वा घातेता ···। यो पि तिण्हेन सत्थेन सीसं छिन्दति, न कोचि किंचि जीविता वोरोपेति, सत्तन्नं त्वेव कायानमन्तरेन सत्थं विवरमनुपतती ति। (वही, पृ० 49.)
4. अत्थि परो लोको ति इति चे मं पुच्छसि, अत्थि परो लोको ति इति च मे अस्स··· इति ते नं व्याकरेय्यं। एवं ति पि मे नो, तथा ति पि में नो अञ्ञथा ति पि मे नो, नो ति पि नो, नो नो ति पि मे नो। (वही, पृ० 51.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निगण्ठ नातपुत्त के चातुर्याम संवर के विषय में पालि-त्रिपिटक में जो वर्णन मिलता है, वह जैनागमों से मेल नहीं खाता है, अतः उसके विषय में यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा है। चातुर्याम संवर के विषय में इससे पूर्व कहा भी जा चुका है।

समीक्षा

उपर्युक्त तीर्थंकरों के मतों को सरसरी दृष्टि से देखने से यही प्रतीत होता है कि ये मत समाज को किसी निश्चित मार्ग का प्रदर्शन नहीं करते थे। इसके साथ ही इन मतवादों से समाज में अराजकता की स्थिति को बढ़ावा मिल सकता था, क्योंकि इन मतवादों में न तो अच्छे कार्यों को करने के लिए प्रेरणा दी गयी है और न ही बुरे कार्यों को छोड़ने के लिए किसी तरह का कोई उपदेश ही है। अतः जनसामान्य के मन में अगर यह जिज्ञासा हो कि ऐसे मतवादों के प्रचारकों के लिए समाज में सम्मान क्यों दिया जाता था ?, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए इन मतवादों का सूक्ष्मता से परीक्षण करना होगा।

इन तीर्थंकरों के मतवादों में किसी सिद्धान्त-विशेष के विधान की अपेक्षा कुछ बातों का निषेध परिलक्षित होता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि समाज में इन मतवादों के प्रचारकों का इसलिए सम्मान था क्योंकि उन्होंने धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों का विरोध किया था। दूसरे शब्दों में समाज में धर्म के नाम पर कुछ ऐसी बातें प्रचलित थीं जिन्हें जन-सामान्य नहीं चाहता था। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(क) आहार-शुद्धि

उस समय कुछ तपस्वी आहार से शुद्धि पर विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि कम से कम आहार लेने से सांसारिक भोगों में आसक्ति रूपी दूषित प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और व्यक्ति अपने को पाप कर्म से शुद्ध कर लेता है।[1]

(ख) उदक-शुद्धि

कुछ तपस्वी यह मानते थे कि गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियों में स्नान

1. सन्ति खो पन, सारिपुत्त, एके समणब्राह्मणा एवंवादिनो एवंदिट्ठिनो आहारेन सुद्धीति। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 112.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने से पाप धुल जाते हैं। फलतः पवित्र नदियों में तथा जलाशयों में स्नान कर अपने को शुद्ध बनाने की भी प्रवृत्ति देखी जाती थी।[1]

(ग) यज्ञ-हवन

उस समय यज्ञ तथा हवन का भी प्रचलन था। तपस्वियों की मान्यता थी कि अग्नि-परिचर्या अथवा विभिन्न प्रकार के यज्ञ करने से पुण्य का संचय होता है।[2]

(घ) ब्रम्ह-सलोकता

बुद्धकालीन भारत में ब्राह्मणों के मन में यह विश्वास था कि ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में ब्रह्मा की सलोकता को पहुँचाने वाला मार्ग है। अतः उस मार्ग पर चलकर ब्रह्मा के साथ निवास करने की क्षमता को प्राप्त किया जा सकता है।[3]

(ङ) आत्मा एवं लोक सम्बन्धी विभिन्न मत

भगवान् बुद्ध का समय आत्मा एवं लोक सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं का समय था। इनके सम्बन्ध में विचारों की बाढ़ सी आ गयी थी। दीघ-निकाय में उल्लिखित बासठ मिथ्या दृष्टियाँ इस बात की पुष्टि के लिये पर्याप्त हैं कि उस समय मनुष्य जन्म से पहले तथा मरने के वाद की स्थिति को जानने के लिए आतुर था। जन्म से पूर्व की स्थिति से सम्बन्धित 18 तथा मरण के उपरान्त की स्थिति से सम्बन्धित 44 मतों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय के धार्मिक एवं बुद्धिजीवी मनुष्य अपने-अपने नवीन वादों का प्रचार कर रहे थे[4] जबकि जन-सामान्य अपने को इस भूल-भूलैया से निकालने के लिए उत्सुक था।

---

1. लोकसम्मता हिं, भो गोतम, वाहुका नदी वहुजनस्ग, पुञ्ञसम्मता हि, भो गोतम, वाहुका नदी बहुजनस्स। बाहुकाय च पन नदिया बहुजनो पापकम्मं कतं पवाहेती ति। (वही, पृ० 52.)
2. दी० नि० खण्ड 1, पृ० 109; (म० नि० खण्ड 1, पृ० 114.)
3. अयमेव उजुमग्गो अयम जसायनो, निय्यानिको, निय्याति तक्करस्स ब्रहमस हव्यताय··· (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 199)
4. ये हि केचि, भिक्खवे, समणा वा ब्राह्मणा वा पुब्बन्तकप्पिकाङ्वा अपरन्तकप्पिका वा···ते इमेहेव द्वासट्ठिया वत्थूहि अन्तोजालीकता एत्थ सिता वा उम्मुज्जमाना उम्मुज्जन्ति। (वही, पृ० 39)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूरण कस्सप आदि तीर्थंकरों ने जन-सामान्य को इन्हीं उलझनों से उबारने का प्रयास किया था। पूरण-कस्सप ने अक्रियावाद का प्रचार कर आहार-शुद्धि, उदक-शुद्धि तथा यज्ञ-हवन आदि उन प्रवृत्तियों का विरोध किया जो धर्म के नाम पर चल रही थीं। मक्खलि गोसाल ने नियतिवाद का प्रचार कर कुछ वर्ग विशेष के कर्तृत्व के अधिकार को चुनौती दी थी। अजित केसकम्बल ने जन्म से पूर्व एवं मरण के बाद की स्थितियों से सम्बन्धित मतवादों पर करारा प्रहार किया था। पकुध कच्चायन ने भी अक्रियावाद जैसा ही सिद्धान्त बताकर क्रियावाद के सिद्धान्तों का विरोध किया था। संजय वेलट्ठपुत्त ने परलोक सम्बन्धी मान्यता को प्रकारान्तर से अज्ञान से परिपूर्ण सिद्धान्त बताया था।

इस प्रकार भारतीय योग-साधना में इन तीर्थंकरों का भले ही सकारात्मक योगदान न रहा हो किन्तु नकारात्मक दृष्टिकोण से इन तीर्थंकरों ने जन-सामान्य को अज्ञानपूर्ण धार्मिक क्रियाओं से उबारने के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया था। यही कारण था कि आचार-विचार में शून्य से प्रतीत होने वाले इन तीर्थंकरों का समाज में सम्मान था और इनके अनुयायियों की संख्या भी बहुत थी।

तापस-जीवन

बुद्धकालीन तापसों के जीवन को मुख्य रूप से दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का तापस-जीवन सरल और सादा था। वे तपस्वी समाज पर कम से कम बोझ बनकर सत्य के अन्वेषण में निरत रहते थे। द्वितीय प्रकार के तापस-जीवन में अत्यन्त कठोर तपस्या की जाती थी। प्रथम प्रकार का तापस-जीवन व्यतीत करने वालों के आठ भेद बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं— 1. सपुत्रभार्य, 2. उंछाचारी, 3 अन-अग्नि-पक्किक, 4 अस्वयंपाकी, 5. अश्म-मुष्टिक, 6. दन्त वल्कलिक, 7. प्रवृत्तफलभोजी तथा 8. पाण्डुपलाशिक।[1] इनमें से जो केणिय जटिल की भाँति कुटुम्ब सहित वास करते थे, उन्हें सपुत्रभार्य कहा जाता था। जो कटाई, दवाई आदि स्थलों पर जाकर विभिन्न अन्नों को इकट्ठाकर पकाकर खाते थे वे उंछाचारी कहलाते थे। जो गाँव-कस्बों से चावल की भिक्षा लेकर पकाकर खाते थे, वे अनग्निपक्कि कहे जाते थे। जो गाँव में जाकर पकी भिक्षा को ग्रहण करते थे, उन्हें अस्वयंपाकी कहते थे। जो पत्थर से अम्बाटक आदि वृक्षों के चमड़े उचाड़कर खाते थे, उन्हें अश्म-मुष्टिक कहते थे। जो दाँत से ही (छाल आदि) उचाड़कर खाते थे वे दन्तवल्कलिक कहलाते थे। जो पत्थर-डंडे

1. सुमंलग०, (खण्ड 1, पृ० 297)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि के द्वारा फलों को गिराकर खाते थे, वे प्रवृत्तफलभोगी कहलाते थे तथा जो स्वयं गिरे फल-फूल-पत्ते खाकर जीवन-यापन करते थे, उन्हें पाण्डुपलाशिक कहा जाता था।[1] अन्तिम कोटि के तापसों को भी तीन विभागों में विभक्त किया जाता था—उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदुक। जो बैठने के स्थान से बिना उठे हाथ पहुँचने भर के स्थान के फल खाते थे, वे उत्कृष्ट कहलाते थे। जो एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को नहीं जाते थे, उन्हें मध्यम कहा जाता था तथा जो जिस—किसी वृक्ष के नीचे जाकर खोजकर फल खाते थे वे मृदुक कहलाते थे।[2] इन आठ प्रकार के तापस-भेदों को देखने से स्पष्ट होता है कि जीवन-यापन के तरीकों के आधार पर तापस विभक्त किये जाते थे। इनके अतिरिक्त ये भेद उत्तरोत्तर कठिन व्रत को व्यक्त करते हैं।

यदि कोई तापस उपर्युक्त प्रकारों से जीवन-यापन करने में असमर्थ रहता था तो वह कन्दमूल फलहारी वनने की इच्छा से कुदाल लेकर कन्दमूल फल खोजकर खाता था।[3] यदि कोई इसे भी पूरा नहीं कर पाता था तो वह अग्नि-शाला बना अग्निपरिचर्या (होम आदि) करता था[4] और यदि इससे भी वह अपना जीवन-यापन करने में सफल नहीं हो पाता था तो वह चौरस्ते पर चार द्वारों वाला आगार बनाकर रहता था और विभिन्न दिशाओं से आने वाले श्रमण-ब्राह्मणों का अन्न-जल से यथा-योग्य सत्कार करता था। बदले में श्रमण-ब्राह्मण अपने पास से विभिन्न वस्तुएं प्रदान करते थे।[5]

तापस-जीवन व्यतीत करने का मुख्य कारण सांसारिक भोगों से विरक्ति ही थी। अतः तापस अपनी इच्छाओं पर विजय के लिए निरन्तर प्रयत्नशील होते थे। वे वस्त्रों में विभिन्न दोषों को देखकर उनके स्थान पर वल्कल को धारण करते थे तथा पर्णकुटी के उपभोग में विभिन्न प्रकार के दोषों को देखकर पर्णकुटी के स्थान पर वृक्ष के नीचे रहना अच्छा समझते थे। तापस यद्यपि सांसारिक भोग-

1. वही, (पृ० 297–298 तथा बुद्धचर्या, पृ० 201–202)
2. तत्थेय निसिन्नट्ठानतो अनुट्ठाय ··ते उक्कट्ठा, ये एकरुक्खतो अञ्ञरुक्खं ··ते मज्झिमा, ये तं तं रुक्खमूलं गन्त्वा···ते मुदुका।

(सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 298)

3. ···पवत्तफलभोजनतं च अनभिसम्भुणमानो कुदालपिटकं आदाय अर वनं अज्झोगाहति। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 88)
4. गामसामन्तं वा निगमसामन्तं वा अग्यागारं करित्वा अग्गिं परिचरन्तो अच्छति। वहीं,
5. ···चातुमहापथे चतुद्वारं अगारं कत्वा···(वही, पृ० 89)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विलास की वस्तुओं का परित्याग कर देते थे किन्तु दैनिक उपयोग के लिए कुछ आवश्यक सामान वे अपने पास रखते थे जिनमें मृगचर्म, झोली, दण्ड, करछुल आदि प्रमुख हैं।[1]

तापसों के आचार से यह कहा जा सकता है कि इनकी साधना सरल थी और इसे ब्राह्मण-वर्ग के लोग अपनाते थे। सुमेध पण्डित ब्राह्मण था और गृह-त्याग कर प्रारम्भ में इसी प्रकार के तापस-जीवन को अपनाया था। जटिल बन्धु अग्नि-परिचर्या में लीन रहते थे। केणिय तो संयत गृहस्थ जीवन-सा व्यतीत करता था।[2] अतः इन सब प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो ब्राह्मण सांसारिक भोगों का त्याग कर तापस-जीवन व्यतीत करता था वह पूर्वोक्त आठ प्रकारों में से किसी एक को अपनाता था।

श्रमणों की तपस्या अपेक्षाकृत कठोर थी। मज्झिमनिकाय में श्रवणों की तपस्या के चार अंगों का उल्लेख मिलता है –(1) शरीर को कृश करने वाली कठिन तपस्या, (2) रूक्षाचार, (3) अत्यन्त जुगुप्सु होना तथा (4) एकान्त विहारी होना।[3] जो व्यक्ति शरीर को तरह-तरह के कष्ट देता है, उसका मन राग-द्वेष से दूषित नहीं होता है। जब शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है तभी मन चंचल होकर विषय-भोग की ओर प्रवृत्त होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर ही श्रमण-परम्परा के अनुयायी तपश्चरण द्वारा देह को इतना अशक्त बना देते थे कि उनका मन सांसारिक भोगों में आसक्त न हो सके। दूसरे शब्दों में उस समय तपस्या से शरीर को कृश करके मन को नियंत्रित करने में अपार आस्था थी। फलतः तत्कालीन श्रमण कठोर तपस्या किया करते थे।[4] उनमें से अधिकांश नंगे रहते

---

1. गेहा निक्खमित्वा ··पण्णसालं पविसित्वा साटक-युगं ओभुचित्वा वाकचीरं परिदहित्वा अजिनदी पिचम्मं एकंसं कत्वा जटामण्डलं वन्धित्वा निवंकं खारिकाजं अंसे कत्वा···कत्तरदण्डं गहेत्वा···तं विक्खम्भेत्वा "सोमति में पब्बज्जा, छिन्नं मे गिहिबन्धनं"···पण्णसालाय वासो दुतियो घरावासो···ति पण्णसालं पजाहित्वा रूक्खमूलं उपगन्त्वा धञ्ञविकर्ति पहाय पवत्तफलभोजनो···

   (महाबोधिवंसो, पृ० 3–4)

2. खु० नि० खण्ड 7, पृ० 307; महावग्गो, पृ० 25–27; खु० नि० खण्ड 1 पृ० 353–356

3. अभिजानामि खो पनाहं, सारिपुत्त, चतुरंगसमन्नागतं ब्रह्मचरियं चरता–तपस्सी सुदं होमि परमतपस्सी, लूखो सुदं होमि परमलूखो, जेगुच्छी सुदं होमि परमजेगुच्छी, पविवित्तो सुदं होमि परम-पविवित्तो। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 109)

4. जैन धर्म-दर्शन, (पृ० 105-106.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे और नग्न रूप में समाज में विचरण करते समय जरा सा भी संकोच नहीं करते थे। वे मुक्ताचारी होते थे। कुल-पुत्र लौकिक आचार का पालन करते हुए शौच क्रिया एवं भोजनादि बैठकर ही करते थे। किन्तु कुछ श्रमण तपस्वी खड़े-खड़े ही भोजनादि को करते थे। खड़े-खड़े हाथों में भोजन लेकर खाते थे और फिर हाथों को चाट कर साफ कर लेते थे। जब वे भिक्षा के लिए गाँव में जाते थे तो कोई व्यक्ति आइये अथवा ठहरिये कह कर अगर भिक्षा देता था, तो उसे वे ग्रहण नहीं करते थे। इसी प्रकार उनके लिए लायी गयी या उनके उद्देश्य से बनायी गयी भिक्षा को भी तपस्वी स्वीकार नहीं करते थे। वे निमंत्रण भी स्वीकार नहीं करते थे। तपस्वी घड़े या पथरी में से भी भिक्षा नहीं लेते थे। कारण कि उनमें से भिक्षान्न निकालते समय करछुला का प्रहार होता था। वे पटरों, डण्डों, मूसलों या भोजन करने वालों के बीच से दी गई भिक्षा को भी ग्रहण नहीं करते थे। वे गर्भिणी, दूध पिलाती या अन्य पुरुष के पास गई स्त्री से भी भिक्षा नहीं लेते थे। चन्दा करके तैयार भिक्षा भी श्रमणों को निषिद्ध थी। जहाँ कुत्ता खड़ा हो या जहाँ मक्खियाँ भनभना रही हों, वहाँ से भी भिक्षा नहीं ली जाती थी। भिक्षा में मांस सुरा, मेरय (कच्ची शराब) तथा तुषोदक (चावल की शराब) को भी ग्रहण नहीं किया जाता था।[1] संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस समय तपस्वी ऐसी भिक्षा को ग्रहण करने योग्य नहीं समझते थे जिस भिक्षा से देने वाले या अन्य किसी प्राणी को थोड़ा सा भी कष्ट हो।

ग्राह्य भिक्षा मिलने पर भी तपस्वी विभिन्न प्रकार के नियमों का पालन करते हुए भिक्षा ग्रहण करते थे। उदाहरण स्वरूप कोई तपस्वी एक ही घर से मिली भिक्षा लेता था, कोई एक ही घर से पर्याप्त भिक्षा न मिलने पर दो घरों की भिक्षा लेकर अपना काम चला लेता था। कोई-कोई तपस्वी तो सात घरों तक की भिक्षा को ग्रहण कर लेता था। इसी प्रकार कोई तपस्वी भिक्षा में एक ही कवल खाने वाला होता था, कोई दो कवल तो कोई कवलों की निश्चित संख्या का नियम लेकर उतने ही कवलों से अपनी भूख शान्त करता था। कुछ तपस्वी करछुला की संख्या सम्बन्धी नियम को लेकर भिक्षा लेते थे। कोई दिन में एक बार ही भिक्षा ग्रहण करते थे कोई दो दिन में एक बार तथा कोई-कोई तो पन्द्रह दिन में केवल एक ही बार भिक्षा लेते थे।

भिक्षा में मिलने वाली भोज्यवस्तु के विषय में भी तरह-तरह के नियम दिखाई देते थे। कुछ तपस्वी शाकाहारी थे, कुछ सांवा-भोजी थे, कुछ केवल तिन्नी ही भिक्षा में लेते थे। इसी प्रकार कोदो, वट (एक प्रकार का तृण) खेत में छूटे

---

1. म० नि० खण्ड 1, पृ० 109-111.

3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए अनाज के दानों, मांड, खली, तृण, गोबर वनमूल फलाहार से ही गुजारा करते थे। कुछ स्वयं गिरे फलों का ही सेवन करते थे।

कुछ तपस्वी नग्न रहते थे, तो कुछ विभिन्न वस्त्रों में से किसी एक को धारण करते थे। इन वस्त्रों में सन के वस्त्र, श्मशान वस्त्र, शव-वस्त्र अथवा फेंके गये वस्त्र प्रमुख थे। कुछ तिरीट नामक छाल का वस्त्र के रूप में उपयोग करते थे। कुछ तपस्वी मृगचर्म, मृगचर्मखण्ड, कुशचीर या बल्लकलचीर को धारण करते थे। कुछ विभिन्न कम्बलों को धारण करते थे उनमें मनुष्यों के केशों से बने कम्बल अथवा उलूक-पक्ष से निर्मित कम्बल भी आते थे। कुछ तपस्वी अपने केश-दाढ़ी अपने हाथों से नोचते थे।

कुछ तपस्वी उकड़ूँ ही बैठे रहते थे, कुछ काँटे पर सोते थे तो कुछ रात्रि में जल में डूबे रहते थे।

इस प्रकार बुद्ध के समय तपस्वी शरीर को कष्टप्रद विभिन्न प्रकार की आहार, वस्त्र एवं आवास सम्बन्धी क्रियाओं को करते थे। ऐसा करते समय उनका लक्ष्य यही रहता था कि उनका मन सांसारिक भोग-विलास की ओर न जाकर सत्य की प्राप्ति के लिए उद्यत हो।

कुछ तपस्वी स्नान से भी विरक्त रहते थे। फलस्वरूप उनके तन पर मैल की पपड़ी पड़ जाती थी। फिर भी तपस्वी अपने मन में एक बार भी ऐसा विचार नहीं लाता था कि मैं इस मैल को साफ कर लूँ। यही तत्कालीन साधकों का रूक्षा-चार था जिसे वे निर्विकार भाव से सहन करते थे।

तपस्वी जुगुप्सा को धारण करता था। यहाँ जुगुप्सा का अर्थ प्राणियों की हिंसा से घृणा करने से है। तपस्वी मानता था कि सभी स्थल प्राणिमय है। अतः वह सदैव इस बात का ध्यान रखता था कि उससे किसी प्रकार के जीव-जन्तु का वध न हो जाय।

भिक्षा खा लेने के बाद तपस्वी एकान्त प्राप्ति के लिए अरण्य में प्रवेश कर विहरते थे। यदि कदाचित् वहाँ उन्हें ग्वाले, घसियारे, लकड़हारे या वन में काम करने वाला कोई व्यक्ति दिखाई देता था तो वे उससे बात न कर गहन से गहन स्थल को चले जाते थे। कारण तपस्वी सतत् यही प्रयत्न करता था कि जिस स्थान पर वे साधना करें वह निर्जन हो। अतः वन में भी मनुष्य को देखकर वे उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार अदृश्य होने का प्रयत्न करते थे जिस प्रकार मृग मनुष्य को देखकर जंगल में और अन्दर जाकर अदृश्य होने का प्रयास करता है।[1]

इसके अतिरिक्त उस समय कुछ तपस्वी पशुओं के समान खाने-पीने का व्रत धारण करते थे। कोलियपुत्र पूर्ण गोव्रतिक था। इसी प्रकार अचेल सेनिय कुक्कुर व्रतिक था। गोव्रतिक पूर्ण गाय के समान ही खड़े-खड़े बिना किसी संकोच के खाता-पीता था और शौचादि क्रियायें भी खड़े-खड़े ही करता था। दूसरी ओर अचेल सेनिय कुत्तों की भाँति खाने-पीने आदि की क्रियायें करता था। एक बार ये दोनों ही भगवान् बुद्ध के पास गये और गोव्रतिक पूर्ण ने अचेल सेनिय के अखण्ड कुक्कुरशील की भावना को बताकर भगवान् से उसके जन्मान्तर में होने वाले फल को पूछा। जब सेनिय को कुक्कुरव्रत की निरर्थकता के विषय में ज्ञान हुआ तो वह फूट-फूट कर रो पड़ा। यही स्थिति गोव्रतिक पूर्ण की भी हुई।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि जन्मान्तर में अच्छे फल की आशा से कुछ तपस्वी निरर्थक व्रतों का भी पालन करते थे।

इस प्रकार की विभिन्न तपश्चर्याओं से तपस्वी सांसारिक भोग-विलास में अनासक्ति, दिव्यशक्ति की उपलब्धि एवं जन्मातर में स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते थे। तपस्वी कठोर तपस्या से ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठा को भी प्राप्त करना चाहते थे। चूँकि आत्मा और लोक के विषय में तरह-तरह के मतों की बाढ़ सी आ गई थी अतः तपस्वी तपस्या के बल पर ज्ञान एवं दर्शन की पराकाष्ठा को प्राप्त करना चाहता था।

पूर्वोक्त दो प्रकार की तपश्चर्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो सत्य की खोज के लिए परिभ्रमण किया करते थे। ऐसे लोगों को परिव्राजक की संज्ञा दी जाती थी। इन लोगों के ठहरने के स्थानों को परिव्राजकाराम कहा जाता

---

1. वही।

2. अथ खो पुण्णों च कोलियपुत्तो गोवतिको अचेलो च सेनियो कुक्कुरवतिको येन भगवा तेनुपसंकमिसु।···कुक्कुरवतं दीघरत्तं समादिन्नं···तस्स का गति, को अभिसम्परायो ति ?···अयं, भन्ते, पुण्णों कोलियपुत्तो गोवतिको। तस्स तं गोवतं दीघरत्तं समादिन्नं तस्स का गति को अभि-सम्परायो ति ?

(म० नि० खण्ड 2, पृ० 61–62)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था।[1] परिव्राजकों में लोक एवं आत्मा के विषय में सत्य जानने की इच्छा तो होती थी[2] किन्तु निश्चित उद्देश्य एवं सुसंगठित संघ के अभाव में परिव्राजक आपस में कभी-कभी ऐसी बातों में भी समय व्यतीत करते थे जिन बातों से संसार के दु खों से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती थी। अतएव ऐसी चर्चाओं को निरर्थक कथा की संज्ञा दी जाती थी। ऐसी चर्चाओं में राजकथा, चोरकथा, महामात्य कथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा, अन्नकथा, पानकथा, वस्त्रकथा, शयनकथा, गंधकथा, मालाकथा, ज्ञातिकथा, यानकथा, ग्रामकथा, निगमकथा, नगरकथा, जनपदकथा, स्त्रीकथा, शूरकथा, विशिखाकथा, कुम्भ स्थान कथा, पूर्वप्रेतकथा, नानात्वकथा, लोक आख्यायिका, समुद्र आख्यायिका, इति भवाभवकथा प्रमुख थीं।[3]

चूँकि परिव्राजकों के कठोर विनय सम्बन्धी नियम नहीं थे, अतः परिभ्रमण के अवसर पर यदि कहीं किसी कन्या के साथ विवाह का प्रस्ताव आता था तो ये उसे स्वीकार भी कर लेते थे।[4] यह बात दूसरी है कि ऐसे परिव्राजक विवाह के बाद पत्नी के प्रभुत्व में रहते थे। ऐसे ही परिव्राजकों के कारण यह धारणा भी वन गयी थी कि कुछ लोग स्त्री-सम्पर्क को दोषास्पद नहीं मानते थे।[5] स्त्री-सम्पर्क की वात को परिव्राजकों के साथ इसलिए जोड़ा जाता था क्योंकि परिव्राजकों को संघ से निष्कासित होने का भय नहीं रहता था। किन्तु इस प्रकार स्त्री-सम्पर्क में आने वाले परिव्राजकों की संख्या कम ही थी। अधिकांश परिव्राजक सांसारिक वैभव से विहीन होकर सत्यान्वेषण में निरत थे। इसीलिए उन्हें भी समाज में तापसों जैसा सम्मान मिलता था।

---

1. ···परिब्बाजको···परिब्बाजकारामे पटिवसति।
(वही, पृ० 173, 255.)
2. किं नु खो, भो गोतम, सस्सतो लोको इदमेव सच्चं मोघम ञ्ञं ति एवंदिट्ठि भवं गोतमो ति ? (वही, पृ० 176.)
3. तेन खो पन समयेन सन्दको परिब्बाजको···अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्तिया-सेय्यथीदं राजकथं चोरकथं···इति भवाभवकथं इति वा।
(वही, पृ० 211, 2224, 247.)
4. तेन खो पन समयेन अञ्ञतरस्स परिब्बाजकस्य दहरमाणविका पजापति होति।
(खु० नि० खण्ड 1, पृ० 77.)
5. सुखो इ मिस्सा परिब्बाजिकाय तरूणाय मुदुकाय लोमसाय वाहाय सम्फस्सो ति। ते कामेसु पातव्यतं आपज्जन्ति। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 377.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार के तापस-जीवन की झलक बुद्ध के जीवन से भी मिलती है। भगवान् बुद्ध जब शुद्धोधन राजा के पुत्र सिद्धार्थ कुमार के रूप में थे तो उनको सांसारिक भोग-विलास के सभी साधन उपलब्ध थे। वृद्ध, रुग्ण, मृत एवं प्रव्रजित व्यक्तियों को देखने के बाद सिद्धार्थ कुमार का मन जब सांसारिक भोगों से विरक्त हो गया तो वे अपने प्रासाद में जाकर विभिन्न प्रकार के मनोरंजनों से उदासीन हो जल्दी ही सो गये और जब कुछ समय बाद उनकी निद्रा टूटी तो उन्होंने अस्त-व्यस्त अवस्था में सोई हुई परिचारिकाओं के घृणित रूपों को देखा जिससे उन्हें भोगों के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो गई। उन्होंने तत्काल गृहत्याग किया[1] और आलार कालाम के आश्रम में पहुँचे। वहाँ आलार कालाम ने उन्हें आकिंचन्यातन का उपदेश दिया।[2] गौतम ने आकिंचन्यातन के मर्म को समझकर यह अनुभव किया कि उतना ज्ञान शान्ति के लिए पर्याप्त नहीं है और वे वहाँ से उद्दक राम-पुत्त के आश्रम में गये। वहाँ उद्दक रामपुत्त से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का मर्म समझ-कर उसे भी सांसारिक दुःखों से मुक्ति के लिए अपर्याप्त समझकर[3] सिद्धार्थ शांति-पद को खोजते हुए उरूवेला पहुँचे और वहाँ अपने अन्तः से काम परिदाह को मिटाकर अनुत्तर संबोधि की प्राप्ति के लिए छः वर्षो तक कठोर तपस्या की। उनकी कठिन तपस्या इस प्रकार थी—

सर्वप्रथम उन्होंने दाँतों के ऊपर दाँत रख जिह्वा को ऊपर तालु से सटाकर रखा। इस तपश्चर्या से बोधिसत्व को वैसा ही शारीरिक कष्ट हुआ जैसा बलवान् व्यक्ति द्वारा किसी दुर्बल व्यक्ति के शिर और कन्धों को जोर से दबाने पर दुर्बल व्यक्ति को होता है। इस प्रकार के असह्य शारीरिक कष्ट से उनके शरीर से पसीना निकला। इस तपश्चर्या के समय उन्हें न तो प्रमाद हुआ और न ही स्मृति में किसी प्रकार की हानि। इस क्रिया से कायकष्ट तो हुआ किन्तु कामतृष्णा शान्त नहीं हुई।[4]

तब बोधिसत्व के मन में श्वासरहित ध्यान करने का विचार आया। फलतः उन्होंने आश्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को बन्द करने के लिए मुख और नाक के

---

1. निदान कथा, (पृ० 144-154.)
2. एवं वृत्ते, राजकुमार, आलारो कालामो आकिञ्चञ्ञायतनं पवेदेसि।
(म० नि० खण्ड 2, पृ० 321.)
3. वही, पृ० 322-323.
4. वही, पृ० 326.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छिद्रों को बलपूर्वक बन्द कर दिया। ऐसा करने से भीतर की वायु बड़े वेग से कानों के छिद्रों से निकलने लगी। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह वायु लोहार की धौंकनी से निकल रही हो ऐसा करने पर भी उन्हें न तो प्रमाद हुआ और न ही स्मृति में किसी प्रकार की क्षति हुई किन्तु इससे भी उनकी तृष्णा शान्त नहीं हुई।

तत्पश्चात् इसी चर्या को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कानों को भी बन्द कर लिया। इससे अन्दर की वायु ने उनके शिर के ऊपरी भाग में जोर से धक्का दिया और उन्हें अत्यन्त तेज त्रिशूल से शिर में मारने जैसा कष्ट हुआ। फिर अत्यन्त तीव्र वायु ने पेट को भी प्रभावित किया और गोघातक के तेज चाकू के प्रहार जैसी पीड़ा हुई। तत्पश्चात् उस वायु से शरीर में अत्यधिक दाह उत्पन्न हुआ। उनकी स्थिति उस समय दुर्बलतर पुरुष के समान हो गई जिसे दो बलवान् पुरुष पकड़कर अंगारों पर तपा रहे हों।

इस कठिन तपश्चर्या से बोधिसत्व के शरीर की हालत इतनी खराब हो गई थी कुछ देवता यह कहने लगे कि श्रमण गौतम मर गया, जबकि कुछ देवता यह भी कहने वाले थे कि इस प्रकार रहना अर्हंतों का स्वभाव है। इस भीषण स्थिति में भी बोधिसत्व की मानसिक स्थिति पूर्ववत् थी अर्थात् इससे उन्होंने न उत्साह में मन्दता आने दी और न ही स्मृति में विकृति। किन्तु इससे भी उनके शरीर को ही कष्ट हुआ, काम तृष्णा शान्त नहीं हुई।

जब आश्वास-प्रश्वास रहित ध्यान से कोई लाभ नहीं हुआ, तब बोधिसत्व ने आहार का त्याग कर तपस्या करने का विचार किया। किन्तु आहार का एकदम त्याग करने से जीवित रहना सम्भव नहीं था, अतः अत्यन्त अल्प मात्रा में आहार लेना स्वीकार किया। कुछ ही दिनों में बोधिसत्व का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। अस्सी वर्ष की आयु वाले व्यक्ति के शरीर के गाठों जैसे इनके अंग-प्रत्यंग हो गये। कूल्हा ऊँट के पैर जैसा हो गया, पीठ के कांटे सूअरों की ऊँची-नीची पंक्ति जैसे हो गये। पसलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गई। आँखें गहरे कुएँ में दिखने वाले तारों जैसी दिखाई देने लगीं। शिर की खाल भी पिचक कर मुर्झा गई। पीठ के काँटे पेट की खाल से सट गये। स्थिति इस सीमा तक बिगड़ गई कि अगर वे शौच को जाते थे, तो कमजोरी के कारण गिर पड़ते थे, यदि काया को सहलाते थे तो गड़ी जड़ वाले रोम झड़ जाते थे। उनके शरीर का उदात्त गौर वर्ण काला पड़ गया था।

इतनी कठिन साधना के बाद भी जब उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तब उनके मन में विचार आया कि बोधि-प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें बचपन में जामुन के वृक्ष के नीचे प्रथम ध्यान की प्राप्ति का स्मरण हुआ और उन्होंने ध्यान से संबोधि-प्राप्ति का संकल्प किया। चूंकि अत्यन्त कृश शरीर से ध्यानस्थ होना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने स्थूल आहार लेना प्रारम्भ कर दिया। इसे देखकर उनकी सेवा में लगे हुए पन्चवर्गीय भिक्षु उन्हें उद्योग से विमुख समझकर उनसे उदासीन होकर ऋषिपतन सारनाथ चले गये।

बोधिसत्व के शरीर में आहार ग्रहण करने से जब कुछ बल आया तो उन्होंने ध्यान में अपने को लगाया। उन्होंने प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान को प्राप्त किया। इससे उनका चित्त परिशुद्ध, निदोष, निर्मल एवं मृदु हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने बोधि प्राप्ति-वाली रात्रि के प्रथम प्रहर में पूर्वनिवासानुस्मृति, द्वितीय प्रहर में दिव्यचक्षु एवं पश्चिम प्रहर में प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्यवेक्षण कर आस्रवक्षय ज्ञान को प्राप्त किया। आस्रवक्षय के साथ सर्वज्ञ ज्ञान को प्राप्त कर वे बुद्ध बन गये।[1]

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिये गये अपने प्रथम धर्मोपदेश में उन्होंने सबसे पहले ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहा कि प्रव्रजितों को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिये। कारण, इन दोनों अन्तों में से किसी एक अन्त का सेवन करने से न तो काम तृष्णा का विनाश होता है और न ही सच्चे ज्ञान का लाभ। इसके लिए तो मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का रास्ता ही श्रेयस्कर है। ज्ञान-प्राप्ति की साधना करने वाले योगी को न तो काम सेवन में लिप्त होना चाहिये और न ही अपने शरीर को कष्ट देना चाहिये। यही बीच का रास्ता बौद्ध धर्म में 'मज्झिम पटिपदा' के नाम से विख्यात है।[2] यह मध्यम प्रतिपदा आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही दूसरा नाम है। आर्यअष्टांगिक मार्ग में ऐसे आठ अंगों का समावेश किया गया है जिनके पालन करने से व्यक्ति शील तथा समाधि को प्राप्त कर प्रज्ञा-लाभ कर सकता है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं—

1. सम्यग्दृष्टि (सम्मादिट्ठि)

मज्झिमनिकाय के सम्मादिट्ठिसुत्त के अनुसार दुराचरण को, दुराचरण के मूल कारण को, सदाचरण को तथा सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेना ही

---

1. दुष्कर तपश्चर्या का वर्णन (मज्झिम निकाय खण्ड 2, पृ० 326 से 330 तक) उल्लिखित है।
2. (म० नि० खण्ड 2, पृ० 335–338 तथा महावग्गो पृ० 13.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि है। दुराचरण शारीरिक, वाचनिक एवं मानसिक होता है। जीव-हिंसा करना, चोरी करना तथा काम-भोग सम्बन्धी मिथ्याचार को शारीरिक दुराचरण कहा जाता है। झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर बोलना एवं व्यर्थ बोलना वाचनिक दुराचरण है। इसी प्रकार लोभ करना, क्रोध करना, तथा मिथ्यादृष्टि रखना मानसिक दुराचरण कहलाता है। दुराचरण का मूल कारण लोभ, द्वेष तथा मोह है। दुराचरण को न करना ही सदाचरण है और राग, द्वेष एवं मोह का न होना ही सदाचरण का मूल कारण है।[1]

इसी को दूसरे ढंग से भी कहा गया है कि दुःख, दुःख के कारण, दुःख का निरोध एवं दुःख-निरोध के मार्ग को ठीक से समझने को ही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।[2] उपर्युक्त सम्यग्दृष्टि की दो प्रकार की परिभाषायें सरसरी तौर पर पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं किन्तु गहराई से विचार करने पर उक्त दोनों परिभाषायें एक ही अर्थ को व्यक्त करती हैं। संसार में ऐसे मनुष्य बहुत से दिखाई देते हैं जो यह मानते है कि संसार में पैदा होकर अधिक से अधिक आनन्द प्राप्त करने की कोशिश करना चाहिए। वस्तुतः अनेक लोगों का तो सांसारिक आनन्द को अधिक से अधिक प्राप्त करना ही जीवन का आदर्श होता है। इस प्रकार सांसारिक आनन्द को गम्भीरता से विचारने पर स्पष्ट होता है कि ये आनन्द न केवल दुराचरण से ही सम्भव हैं अपितु दुःख के कारण भी होते हैं। उदाहरण-स्वरूप शराबी को देखा जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में शराब से आनन्द की अनुभूति करने वाला व्यक्ति कुछ ही दिनों में शराब का इतना पराधीन हो जाता है कि शराब के मिलने पर उसे कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता जबकि शराब के न मिलने पर उसे असह्य कष्ट होता है। यही स्थिति संसार के सभी प्रकार के आनन्द की होती है। इसे ही वास्तविक रूप से देखना ही सम्यग्दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प (सम्मासंकप्पो)

संकल्प का अर्थ दृढ़ विचार है। जब व्यक्ति को सांसारिक दुःखों एवं उनके कारणों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तो वह उनसे अपने को मुक्त करने का पक्का निश्चय कर लेता है। इसी को सम्यक् संकल्प कहा जाता हैं। वह समझ

---

1. (म० नि० खण्ड 1, पृ० 62–63.)
2. वही, पृ० 64–65; खण्ड 3, पृ० 337.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेता है कि जब तक व्यक्ति काम-भोग में रत रहता है तब तक वह जरा मरण आदि दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता है। अतः उसका सभी प्रकार के काम-भोगों से निर्वृत्त होकर दुःखों के अन्त के लिए प्रयास करूंगा—इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेना ही सम्यक् संकल्प है। ऐसा संकल्प तीन प्रकार का होता है—नैष्क्रम्य संकल्प, अव्यापाद-संकल्प तथा अविहिंसा संकल्प।[1]

3 सम्यग्-वाक् (सम्मावाचा)

वचन से सदाचरणपूर्ण रहना ही सम्यग्-वाक् है। जब व्यक्ति झूठ बोलता है, चुगली करता है, अपशब्द बोलता है अथवा व्यर्थ की बकवास करता है, तो उससे तरह-तरह की उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं और वे उलझनें दुःख का कारण बन जाती हैं। अतः व्यक्ति को सत्य, मधुर एवं हितकर वचन ही बोलना चाहिये। सत्य, मधुर एवं हितकर वचन बोलने वाले व्यक्ति की वाणी को सम्यग्-वाक् कहा जाता है।[2]

4. सम्यक्-कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो)

जिस प्रकार वाचनिक सदाचरण को सम्यग्-वाक् कहा गया है उसी प्रकार कायिक सदाचरण को सम्यक् कर्मान्त कहा जाता है। चूंकि प्राणियों की हिंसा करना, चोरी करना तथा काम-भोग सम्बन्धी मिथ्या आचरण करना दुराचरण कहलाता है और उनका त्याग सदाचरण कहलाता है।[3] अतः प्राणियों की हिंसा, चोरी तथा काम-भोग का मिथ्या आचरण न करना ही सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यग्–आजीव (सम्माआजीवो)

शारीरिक एवं वाचनिक दुष्चरित्रता छोड़कर परिशुद्ध कार्यों द्वारा अपनी जीविका चलाना ही सम्यग्-आजीव है। जो व्यक्ति आजीविका के लिए व्यापार करते हैं उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनका व्यापार दूसरों के

---

1. (म० नि० खण्ड 3, पृ० 337.)
2. मुसावादा वेरमणी पिसुणाय वाचाय वेरमणी··· वही।
3. पाणातिपाता वेरमणी अदिन्नादाना वेरमणी कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी—अयं वुच्चता-वुसो सम्माकम्मन्तो। वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनर्थ के लिए न हो। अतः उन्हें शस्त्रों, जानवरों, मांस, मद्य तथा विष के व्यापार से विरक्त रहना चाहिये।[1]

6 सम्यग्-व्यायाम (सम्मावायामो)

व्यायाम का अर्थ है प्रयत्न। चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक् प्रयत्न कहा जाता है --अनुत्पन्न अकुशल कर्मों के अनुत्पादन के लिए प्रयत्न, उत्पन्न अकुशल कर्मों के विनाश का प्रयत्न, अनुत्पन्न कुशल कर्मों के उत्पाद के लिए प्रयत्न एवं उत्पन्न कुशल कर्मों के अनुरक्षण का प्रयत्न। इन्हीं चार प्रयत्नों को संयम-प्रयत्न, प्रहाण-प्रयत्न, भावना-प्रयत्न तथा अनुरक्षण-प्रयत्न कहा जाता है।[2]

चित्त की एकाग्रता का इच्छुक योगी इस बात पर जोर लगाता है कि कोई पापमय विचार जो उसके मन में अभी तक न हो, आगे उत्पन्न न हो सके। फलस्वरूप यदि वह अपनी आँख से किसी सुन्दर रूप को देखता है तो न आँखें गड़ाता है और न मजा लेता है। वह ऐसा इसलिए करता है कि कहीं चक्षु के असंयम से उसके मन में लोभ-द्वेष आदि बुरे विचार उत्पन्न न हो जायें। इसी प्रकार कान से सुन्दर शब्दों को सुनने पर, नाक से सुगन्ध सूँघने पर, जीभ से रस चखने पर, शरीर से स्पर्श करने पर तथा मन से विचार करने पर वह अपने मन पर नियन्त्रण करता है। इस प्रकार नियन्त्रण के प्रयत्न को ही संयम प्रयत्न कहते हैं।

इसके साथ ही जो पापमय विचार उसके मन में उत्पन्न हो चुके हैं उन्हें वह दूर करने के लिए जोर लगाता है। उदाहरणस्वरूप उसके मन में यदि काम-भोग की इच्छा, क्रोध या हिंसा सम्बन्धी विचार उत्पन्न हो चुके हैं, तो वह ऐसे विचारों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का प्रयत्न करते समय वह तृष्णा, द्वेष अथवा मूढ़ता से परिपूर्ण अशुभ विचारों के उत्पन्न होने पर वह शुभ विचार उत्पन्न करने वाली बातों को विचारता है और अपने चित्त से चित्त

---

1. (क) अरियसावको मिच्छाजीवं पहाय सम्माआजीवेन जीविकं कप्पेति—अयं वुच्चतावुसो सम्माआजीवो। वही,
   (ख) सत्थवणिज्जा, सत्तवणिज्जा, मंसवणिज्जा, मज्जवणिज्जा, विसवणिज्जाइमा··· पंचवणिज्जा · अकरणीया ति। (अ० नि० खण्ड 2, पृ० 454.)
2. (म० नि० खण्ड 2, पृ० 234; खण्ड 3, पृ० 337.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के निग्रह को करता है। ऐसा करने से उसके मन में विद्यमान अशुभ विचार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न को प्रहाण-प्रयत्न कहते हैं।

इसके अतिरिक्त जो कल्याणमय बातें उसमें नहीं हैं, वह उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसे भावना-प्रयत्न कहते हैं। कल्याणमय बातों से यहाँ स्मृति (जागरूकता). धर्मविचय, वीर्य, प्रीति. प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा—ये सात बोधि के अंग अभिप्रेत हैं। इसके अतिरिक्त जो अच्छी बातें उसके चरित्र में आ गयी हैं और जो चित्त की एकाग्रता के लिए उपयोगी भी हैं, उनकी रक्षा करने का प्रयत्न करना ही अनुरक्षण-प्रयत्न है।

7. सम्यक् स्मृति (सम्मासति)

चार प्रकार के स्मृति प्रस्थानों को ही सम्यक्स्मृति कहते हैं। ये चार स्मृति प्रस्थान हैं—कायानुपश्यना. वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना। काय में होनेवाली क्रियाओं को सूक्ष्मता से जानते रहना कायानुपश्यना है। इसी प्रकार सुख वेदना, दुःख वेदना, असुख-अदु ख वेदना में से जिस वेदना का अनुभव हो रहा हो, उसे उसी रूप में जानना वेदनानुपश्यना है। सराग चित्त, विराग चित्त आदि विभिन्न चित्तों में से जब जो चित्त हो, उस समय उसे उसी रूप में जानना चित्तानुपश्यना है तथा विभिन्न प्रकार के धर्मों में जो धर्म हो उसे उसी रूप में जानना धर्मानुपश्यना है।[1]

8. सम्यक्-समाधि (सम्मासमाधि)

कुशल चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।[2] दूसरे शब्दों में जब एक आलम्बन में चित्त-चैतसिक भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तो उसको समाधि कहते हैं। समाधि का प्रधान लक्षण यह है कि इसमें चित्त-विक्षेप नहीं होता है। स्मृति-प्रस्थान के चार प्रकार समाधि के निमित्त हैं जबकि चारों प्रकारों के सम्यक् व्यायाम समाधि की सामग्री हैं।[3]

---

1. (म० नि खण्ड 1, पृ० 77; खण्ड 3 पृ० 337.)
2. कुसलचित्तेकग्गता समाधि।
   (विसुद्धि० खण्ड 1, पृ० 188)
3. चत्तारो सतिपट्ठाना समाधिनिमित्ता,
   चत्तारो सम्मप्पधाना समाधिपरिक्खारा।
   (म० नि० खण्ड 1, पृ० 371.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने की दो विधियाँ बतायी गयी हैं। इनमें से पहली विधि को शमथनय और दूसरी विधि को विपश्यना-नय कहते हैं। अपने नाम-रूप के अतिरिक्त पृथ्वी कसिण आदि किसी एक विषय या मनुष्य आदि किसी एक प्राणी अथवा किसी एक स्वभाव में ध्यान लगाने के लिए अभ्यस्त भावना-विधि को शमथनय से चित्त को एकाग्र करने की विधि कहते हैं। इस विधि से चित्त जब एकाग्र हो जाता है तब प्रथम ध्यान आदि विभिन्न उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनका आगे विस्तार से वर्णन किया जायेगा। विपश्यना-नय से चित्त को एकाग्र करते समय केवल अपने नाम-रूप को ही ध्येय विषय बनाकर एकाग्रता का अभ्यास करना होता है। इस विधि से चित्त एकाग्र हो जाने पर व्यक्ति अपने एकाग्रतासम्पन्न चित्त से नाम रूप के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव को जानकर उनकी असारता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग के उक्त आठ अङ्गों में समाधि ही प्रमुख है। कारण कि समाधि से ही अर्हत् पद प्राप्त किया जा सकता है। शेष सभी अंग समाधि के सहायक हैं।[1]

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर भगवान् बुद्ध के काल तक के भारत के धार्मिक इतिहास से यह सुविदित होता है कि वैदिक काल में जहाँ धार्मिक क्रिया-कलापों का मुख्य लक्ष्य प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा करना तथा सांसारिक वैभव का अर्जन करना था वहीं बुद्धकालीन धार्मिक तपश्चर्या का मुख्य ध्येय उस मार्ग का अन्वेषण करना था जिसके सहारे सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त की जा सके। बुद्ध के काल में एक ओर जहाँ भौतिक सुखों की अभिलाषा से वैदिककालीन देवताओं की स्तुति एवं विभिन्न प्रकार के यज्ञों का प्रचलन था, वहीं दूसरी ओर आत्मा एवं परलोक सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के कारण आचार में शिथिलता का उदय हो रहा था। दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों से जन-सामान्य का दोहन हो रहा था। वैदिक कर्मकाण्डों से प्रभावित राजा अपने सुखमय जीवन के लिए यज्ञ करवाते थे। यज्ञों पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। फलतः वे समाज में अपने को विशिष्ट श्रेणी का पुरुष समझते थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण अपना सम्बन्ध ब्रह्मा से जोड़कर सम्पूर्ण प्रजा को आतंकित-सा किये हुए थे। दूसरी ओर उपनिषद्-काल के आत्मा - सम्बन्धी सिद्धान्त ने बौद्धिक हलचल उत्पन्न कर दी। जो व्यक्ति वैदिक क्रियाकाण्ड को निरर्थक समझकर आत्मा के

1. या खो, भिक्खवे, इमेहि सत्तहंगेहि चित्तस्य एकग्गता परिक्खता, अयं वुच्चति, भिक्खवे, अरियो सम्मासमाधि सउपनिसो इति पि सपरिक्खारो इति पि।
(म० नि० खण्ड 3, पृ० 135)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याण की बात सोचता था, वह नाना मतवादों में उलझ जाता था। इस उलझन को सुलझाने के लिए व्यक्ति उस ज्ञान को प्राप्त करना चाहता था जो सच्चा हो। यही कारण है कि 'बुद्ध' शब्द सुनकर बड़े से बड़े पण्डित लोग भी उनके पास इस आशा से जाने में नहीं चूकते थे कि शायद उनसे सही मार्ग-दर्शन हो जाये। कुछ लोग विभिन्न प्रकार की कठिन तपश्चर्याएँ भी करते थे। वे सोचते थे कि शायद कठिन तपस्या से उनका मन सांसारिक आसक्तियों से मुक्त हो जाये और वे दुःख-निवारण के मार्ग का साक्षात्कार कर सकें।

इस प्रकार के ऊहापोह के समय में छः तीर्थंकरों ने अपने उपदेशों में वैदिक काल के यज्ञ-विधानों को तथा उपनिषद काल के आत्मवाद को निरर्थक बताया। इन तीर्थंकरों के मतवादों में सकारात्मक तथ्य न होने पर भी वे जन-सामान्य के लिए प्रिय हुए। कारण कि, इन मतवादों में धार्मिक दमन के विरूद्ध सशक्त आवाज उठायी गयी थी। अभी तक किसी ने न तो आचार का उपदेश दिया था और न ही ऐसे किसी विषय का जिसकी उपयोगिता को बुद्धि से परखा जा सके।

ऐसे समय में भगवान् बुद्ध के द्वारा आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। इसका प्रधान कारण यह था कि इस आर्य अष्टांगिक मार्ग में जहाँ सदाचार की शिक्षा दी गयी थी, वहीं चित्त की एकाग्रता एवं उत्कृष्ट ज्ञान का भी उपदेश दिया गया था। इसके अतिरिक्त बुद्ध के इस उपदेश में न तो अन्ध-विश्वास को कोई स्थान प्राप्त था और न ही निरर्थक बौद्धिक खिलवाड़ ही किया गया था। आर्य अष्टांगिक मार्ग से शाश्वत-वाद, ईश्वरवाद, भौतिकवाद जैसी घातक विचारधाराओं का भी निराकरण किया गया था। चूंकि प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध केवल योग-साधना से ही है, अतः यहाँ बौद्ध धर्म के प्रतीत्यसमुत्पाद, अभौतिकवाद आदि सिद्धान्तों का विवेचन न कर केवल इतना ही कहना समुचित होगा कि भगवाद् बुद्ध के मध्यम मार्ग या आर्य अष्टांगिक मार्ग के उपदेश ने भारतीय योग साधना को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। मनुष्यों ने यह अनुभव किया कि अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभावों में नित्य, सुख एवं आत्मवाद की मान्यता से ही दुःख होता है। सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव को जानने के लिए यह आवश्यक है कि चित्त एकाग्र हो तथा चित्त की एकाग्रता शील-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। अतः सांसारिक दुःख के निवारण के लिए की गयी योग-साधना के लिये शील, समाधि और प्रज्ञा वाला आर्य अष्टांगिक मार्ग ही सर्वोत्तम है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा अध्याय

शिक्षा-त्रय एवं अधिशील शिक्षा

भगवान् बुद्ध ने दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा के रूप में जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया है, योग-साधना के लिए उस मार्ग का पालन किस क्रम से करना चाहिये ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका समाधान होने पर ही बौद्ध धर्म में योग-साधना का स्वरूप स्पष्ट होगा। इसके अतिरिक्त यह आर्य अष्टांगिक मार्ग कहाँ तक बुद्ध कालीन धार्मिक समाज के लिये सहायक सिद्ध हुआ है—यह भी यहाँ विचारणीय है।

अष्टांगिक मार्ग का शिक्षा-त्रय में विभाजन

योग-साधना की दृष्टि से आर्य अष्टांगिक मार्ग को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। ये तीन भाग भाग हैं—शील, समाधि एवं प्रज्ञा। इनमें से शील के अन्तर्गत सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यग्--आजीव का समावेश किया जाता है। इसी प्रकार समाधि में सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि की गणना की जाती है जबकि प्रज्ञा में सम्यग् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प आते हैं।[1] योगी अपनी साधना के प्रसंग में शील, समाधि एवं प्रज्ञा को क्रमशः अपने में विकसित करता है। इनमें से शील से साधना प्रारम्भ होती है, समाधि से वह अपनी साधना का विकास करता है और प्रज्ञा के सहारे वह अपने दुःखनिरोध रूप लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रसंग में संयुक्त निकाय में आयी एक गाथा अत्यधिक उपयोगी है। उस गाथा में कहा गया है कि जो मनुष्य उद्योगी एवं निपुण भिक्खु के रूप में शील पर प्रतिष्ठित होकर चित्त एवं प्रज्ञा की भावना को करता है, वह इस

---

1. तीहि च खो, आवुसो विसाख, खन्धेहि अरियो अट्ठङ्गिको भग्गो संगहितो। या सम्मावाचायो च सम्माकम्यन्तो यो च सम्माआजीवो इमे धम्मा सीलक्खन्धे संगहिता···

(म० नि० खण्ड 1, पृ० 371.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जटा को काट सकता है।[1] इस गाथा के पूर्व प्रसंग को देखने से स्पष्ट होता है कि एक बार भगवान् श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। तभी रात्रि में किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे यह प्रश्न किया कि अन्दर जटा है, बाहर जटा है, जटा से प्रजा (प्राणी) जकड़ी हुई है। इसलिए हे गौतम ! मैं आपसे पूछता हूँ कि कौन इस जटा को काट सकता है ?[2]

उक्त प्रश्न एवं उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि इस संसार में तृष्णा रूपी जटा को समाप्त करने के लिए मनुष्य को शील पर प्रतिष्ठित होकर समाधि एवं प्रज्ञा का विकास करना चाहिये। यही भगवान् बुद्ध की योगी के लिए अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा तथा अधिप्रज्ञा शिक्षा के रूप में शिक्षा-त्रय है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में योग-साधना के लिये शील, समाधि और प्रज्ञा की शिक्षा दी गयी है।

इस शिक्षा-त्रय के महत्त्व पर प्रकाश डालने के लिए संयुक्त निकाय की उक्त गाथा की स्पष्ट व्याख्या आवश्यक है।

संसार में सभी प्राणी तृष्णा रूपी जटा से जकड़े हुए हैं। यहाँ प्राणी की उपमा वेणु-वृक्ष से दी गयी है। जिस प्रकार वेणु-वृक्ष गुल्मादि लताओं से बुरी तरह उलझा होता है उसी प्रकार प्राणी भी भीतरी और बाहिरी आयतनों से उत्पन्न तृष्णा से ग्रस्त होता है।[3] जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी पर खड़ा होकर अच्छी तरह से तेज किये गये हथियार से वेणुवृक्ष की गुल्मादि झाड़ियों को काटता है, उसी प्रकार शील रूपी पृथ्वी पर खड़ा होकर समाधि रूपी शिक्षा पर रगड़कर पैने किये हुए विपश्यना की प्रज्ञा रूपी हथियार को बलपूर्वक पकड़कर बुद्धि-पूर्वक उद्योग करता हुआ तृष्णा रूपी जटा को काट डाले।[4] ऐसे योगी के लिए

---

1. सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो
   चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
   आतापी निपको भिक्खु
   सो इमं विजटये जटं ति ॥ (सं० नि० खण्ड 1, पृ० 14)
2. वही,
3. यथा हि नाम वेणुगुम्बजटा दीहि वेणु आदयो, एवं ताय तण्हाजटाय सब्बा पि अयं सत्तनिकायसंखाता पजा जटिता ·· (विसु० खण्ड 1, पृ० 5–6)
4. एवमेव सीलपथवियं पतिट्ठाय समाधि सिलायं सुनिसितं विपस्सनाय सत्थं ··उक्खि-पित्वा सब्बम्पि तं अत्तनो सन्ताने पतितं तण्हाजटं विजटेय्य। (वही, पृ० 17–18)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह आवश्यक है कि वह संसार में भय देखने वाला हो। यदि वह संसार से भयभीत न हो तो वह सांसारिक तृष्णा के जाल को नहीं काट सकेगा।[1]

दीघ निकाय में कहा गया है कि शील से संयुक्त समाधि महती फलदायिका होती है और समाधि-संयुक्त प्रज्ञा महा फल देने वाली होती है। कारण कि प्रज्ञा से संयुक्त चित्त अच्छी तरह से क्लेशों से विमुक्त हो जाता है।[2]

उक्त कथन से यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में योग-साधना के शील, समाधि और प्रज्ञा—ये तीन सोपान हैं। चूंकि शील के बिना समाधि एवं प्रज्ञा की उपलब्धि सम्भव नहीं है और समाधि के बिना प्रज्ञा की उपलब्धि नहीं हो सकती है अतः इन तीन सोपानों में शील प्रथम सोपान है, समाधि द्वितीय सोपान है और प्रज्ञा अन्तिम सोपान है। शील, समाधि एवं प्रज्ञा के इस क्रम एवं महत्त्व का प्रतिपादन विभिन्न युक्तियों से किया गया है।

शिक्षा-त्रय का महत्व

शील, समाधि एवं प्रज्ञा बुद्ध के शासन का क्रमशः आदि, मध्य एवं अन्त है। भगवान् बुद्ध के धर्म को आदि में कल्याणमय, मध्य में कल्याणमय तथा अन्त में कल्याणमय कहा गया है।[3] इससे शील (आदि) की, समाधि (मध्य) की तथा प्रज्ञा (अन्त) की कल्याणता की अभिव्यक्ति होती है। समस्त पापों का न करना शील है, चित्त की एकाग्रता समाधि है और सभी संस्कारों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव को देखना प्रज्ञा है।[4] शील इसलिये कल्याणमय है क्योंकि शील-सम्पन्न व्यक्ति अपने किये हुए कार्यों का स्मरण कर पश्चात्ताप नहीं करता है; समाधि इसलिए कल्याणमय है क्योंकि इससे ऋद्धि-विध आदि गुणों

1. संसारे भयं दक्खती ति भिक्खु (वही पृ० 16–17)
2. सीलपरिभावितो समाधि · समाधि परिभाविता पञ्ञा महप्फला होति महानिसंसा। पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति। (दी० नि० खण्ड 2, पृ० 73)
3. सो धम्मं देसेति आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं··· (म० नि० खण्ड 2, पृ० 77)
4. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥ (खु० नि० खण्ड 1, पृ० 35.5)
द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 18.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की उपलब्धि होती है और प्रज्ञा इसलिये कल्याणमय है क्योंकि इससे इष्ट-अनिष्ट में तादिभाव (समभाव) की उपलब्धि होती है।[1]

इसके अतिरिक्त शील के परिशुद्ध हो जाने पर स्मृतिबल तथा ज्ञानबल भी प्रकट हो जाते हैं। फलतः परिशुद्ध शील-सम्पदा से पूर्वेनिवासानुस्मृति च्युति-उत्पादज्ञान तथा आन्तरिक शुद्धिरूप तीन उपलब्धियाँ होती हैं। समाधि से छः अभिज्ञाओं की उपलब्धि होती है और प्रज्ञा-सम्पदा से प्रतिसम्मिदा के भेदों की प्राप्ति होती है।[2]

शील की शिक्षा से काम भोगों में लिप्त रहने वाले अन्त को त्यागने की शिक्षा दी गयी है, समाधि की शिक्षा से अपने को कष्ट देने वाली कठिन समस्या को त्यागने की शिक्षा दी गयी है तथा प्रज्ञा से योग-साधना के क्षेत्र में मध्यम मार्ग अपनाने की शिक्षा दी गयी है।[3] फलतः शील, समाधि और प्रज्ञा की शिक्षा-त्रय से तत्कालीन भारत में विद्यमान योग-साधना के क्षेत्र में दो निरर्थक अतियों का त्याग कर व्यावहारिक मध्यम मार्ग का उपदेश दिया गया है।

शील से दुराचरण की बुराइयों का, समाधि से तृष्णा तथा प्रज्ञा से दृष्टि की बुराइयों का विशोधन होता है।[4] शील को स्रोतापन्न तथा सकृदागामी होने का साधन बतलाया गया है। समाधि को अनागामी और प्रज्ञा को अर्हत् होने का साधन बतलाया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दुःख निरोध के लिए उद्यत योगी स्रोतापन्न सकृदागामी एवं अनागामी की अवस्थाओं को पार कर अर्हत् अवस्था को प्राप्त करता है। दुःखनिरोध के लिये जाने वाले स्रोत में आने का प्रयास करने वाले सत्त्व को स्रोतापत्ति मार्ग में स्थित सत्त्व कहा जाता है और जब

---

1. (क) अविप्पटिसारत्थानि · कुसलानि सीलानि (अं० नि० खण्ड 4, पृ० 99)
   (ख) सीलं सासनस्स आदि तञ्च कल्याणं अवि-प्पटिसारादिगुणावहत्ता, समाधि सासनस्स मज्झें, सो च कल्याणों, इद्धिविधादिगुणावहत्ता · पञ्ञा सासनस्स परियोसानं, सा च कल्याणं इट्ठानिट्ठेसु तादिभावावहनतो। (विसु० खंड 1, पृ० 21–22)
2. सीलसम्पत्तिंहि निस्साय तिस्सो विज्जा पापुणाति,···समाधिना·· छ अभि···पञ्ञा सम्पत्तिञ्हि निस्साय चतस्सो पटिसम्मिदा पापुणाति। (वही, पृ० 22–23)
3. सीलेन च कामसुखल्लिकानु योगसंखातस्स अन्तस्स···समाधिना अत्तकिलमथानुयोग-संखातस्स पञ्ञाय मज्झिमायपटिपत्तिया सेवनं पकासितं होति। (वही, पृ० 23.)
4. सीलेन दुच्चरितसंकिलेसविसोधनं···
   पञ्ञाय दिट्ठिसंकिलेसविसोधनं। (वही, पृ० 25)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह स्रोत में आ जाता है, तव उसे स्रोतापन्न कहते हैं। जब उस स्रोत में वह सत्त्व शीघ्रता से आगे बढ़ने को उद्यत होता है तो उसे सकृदामी मार्ग में स्थित सत्व कहा जाता है और जब वह शीघ्रता से उस स्रोत में बढ़ने लगता है, तब उसे सकृदागामी फल में स्थित सत्त्व कहा जाता है। जब वह सत्त्व इतनी अधिक दूरी पर जाने का प्रयास करता है जहाँ से वापिस आना सम्भव नहीं होता है, तो उसे अनागामी मार्ग में स्थित सत्त्व कहा जाता है और जब वह उतनी अधिक दूरी पर चला जाता है तब उसे अनागामी फल में स्थित सत्त्व कहा जाता है। जब वह सत्व अवशिष्ट वन्धनों को काटने का प्रयास करता है; तब उस सत्व को अर्हत्मार्ग में स्थित सत्व कहा जाता है और जब वह अवशिष्ट बन्धनों को भी नष्ट कर देता है तब उसे अर्हत् कहा जाता है।[1]

सत्व दुःख का निरोध तभी कर सकता है जब वह दस संयोजनों को नष्ट कर दे। ये दस संयोजन हैं—दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श; विचिकित्सा, कामराग, पटिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या। इनमें से प्रथम पाँच संयोजनों को अवरभागीय (पालि-ओरम्भागीय) संयोजन कहते हैं क्योंकि ये सत्व को चार अपाय भूमियों में ही बाँधकर रखते हैं जबकि रूपराग अरुपराग और मान, औद्धत्य एवं अविद्या उसे क्रमशः रुपभूमि, अरुपभूमि, और ब्रह्मभूमियों में बाँध कर रखते हैं। चूंकि रूपभूमि, अरूपभूमि, एवं ब्रह्मभूमियाँ ऊर्ध्व भूमियाँ कही जाती हैं, अतः इन भूमियों से बांधनेवाले संयोजनों को ऊर्ध्वभागीय (पालि-उद्धम्भागीय) संयोजन कहते हैं।[2]

स्रोतापन्न सत्व प्रारम्भ के तीन संयोजनों को नष्ट कर देता है तथा सकृदागामी उसके बाद के दो (कामराग तथा पटिघ) संयोजनों को दुर्बल बना देता है। अतः स्रोतापन्न एवं सकृदागामी सत्व अपाय भूमि में उत्पन्न नहीं होते हैं।[3] अनागामी सत्व सभी अवरभागीय संयोजनों को नष्ट कर देता है, अतः वह कामभूमि में उत्पन्न न होकर ऊर्ध्व भूमियों में रहकर ही निर्वाण को पाता है। अर्हत् ऊर्ध्व-

1. (अभिध० खंड 2, पृ० 959—965.)
2. संयोजननिद्देसे अज्झत्तं ति कामभवो, वहिद्धा ति रूपारूपभवो। ··इति अज्झत्तसंखाते कामभवे वन्धनं अज्झत्तसंयोजनं नाम, वहिद्धासंखातेसु रूपारूपभवेसु बन्धनं बहिद्धासंयोजन नाम। तत्थ एकेकं पंचपंच विधं होति। पंचोरम्भागियानि पंचुदुम्भागियानी ति।
अभिध० खण्ड 2, पृ० 75
(द्रष्टव्य अं० नि० खण्ड 4, पृ० 92,93)
3. इधेकच्चो पुग्गलो तिण्णं संयोजनानं परिक्खया सोतापन्नो होति अविनिपातधम्मो··· तिण्णं संयोजनानं परिक्खया रागदोसमोहानं तनुत्ता सकदागामी होति।
पुग्ग० पृ० 25,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भागीय संयोजनों को भी नष्ट कर देता है।[1] अतः वह दुःख के निरोध को प्राप्त कर लेता है।

चूंकि सत्वशील से स्रोतापन्न एवं सकृदागामी होता है, समाधि से अनागामी होता है और प्रज्ञा से अर्हत् अवस्था को प्राप्त करता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शील से अपाय भूमियों का अतिक्रम होता है, समाधि से कामधातु का अतिक्रम होता है तथा प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रम होता है।[2]

शील दीपक के प्रकाश के समान है। जहाँ-जहाँ दीपक का प्रकाश जाता है, वहाँ-वहां का अन्धकार नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तत् तत् कुशलशील से तत् तत् अकुशल-शील नष्ट होते हैं। समाधि नीवरणों को हटाकर क्लेशों को अभिभूत करती है। किन्तु प्रज्ञा क्लेशों का समुच्छेद करती है।[3]

इस प्रकार शील,समाधि और प्रज्ञा बौद्ध धर्म के अनुसार योग-साधना करने वाले योगी के लिए तीन सोपान के रुप में हैं। अगर योगी शील तक ही अपनी योग-साधना कर पाता है तो उसे उसके अनुरुप फल प्राप्त होगा। इसी प्रकार समाधि तक योग-साधना करने वाले योगी को उतना ही फल मिलेगा। किन्तु सम्पूर्ण दुःख के निरोध के लिए योगी को शील-सम्पन्न होकर समाधि से चित्त को एकाग्र कर प्रज्ञा से सांसारिक वस्तुओं का अनित्य, दुःख एवं अनात्म रुप ज्ञान प्राप्त करना होगा। इस प्रकार के ज्ञान से योगी की तृष्णा रुपी जटा का विनाश हो जाता है और वह संसार के जाति, जरा, व्याधि एवं मरण के दुःख से मुक्त हो जाता है।

---

1. (क) इधेकच्चो पुग्गलो पंचन्नं ओरम्भागियानं संयोजनानं परिक्खया ओपपातिको होति तत्थ परिनिब्बायी अनावत्तिधम्मो तस्मा लोका। (वही, पृ० 26)

   (ख) यस्स पुग्गलस्स रूपरागो, अरूपरागो, मानो, उद्धच्चं अविज्जा अनवसेसा पहीना अयं वुच्चति पुग्गलो अरहा। (वही, पृ० 28)

2. (क) तथा सीलेन सोतापन्नसकदागामिभावस्स कारणं पकासितं होति, समाधिना अनागामिभावस्स पञ्ञाय अरहत्तस्स। (विसु० खण्ड ।, पृ० 26)

   (ख) सीलेन अपायसमतिक्कमनुपायो पकासितो होति, समाधिना कामधातुसमतिक्कमनुपायो, पञ्ञाय सब्बभवसमतिक्कमनुपायो। (वही, पृ० 24)

3. दीपालोकेनेव तमस्स पुञ्ञ किरियवत्थुगतेन तेन तेन कुसलंगेन तस्स तस्स अकुसलंगस्स पहानवसेन, समाधिना विक्खम्भनपहानवसेन···पञ्ञाय समुच्छेदप्पहानवसेन। (वही पृ० 24)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शील

शील, समाधि और प्रज्ञा के पूर्वोक्त महत्व से एक बात यह स्पष्ट होती है कि बिना शील के समाधि तथा प्रज्ञा होना सम्भव नहीं है। अतः यदि कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म में बतायी गयी विधि से चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह शील से सम्पन्न हो। उसे अपने शील को चारों ओर से पूर्ण रुप से शुद्ध करना चाहिये। यदि अपरिशुद्ध शील से चित्त की एकाग्रता की भावना की गयी तो समाधि नहीं कही जायेगी क्योंकि ऐसी स्थिति में वह कुशल चित्त की एकाग्रता न होकर अकुशल चित्त की एकाग्रता होगी और उससे सांसारिक दुःखों को समूल नष्ट करने वाली प्रज्ञा उत्पन्न नहीं हो सकती है।

योग-साधना में परिशुद्ध शील के उक्त महत्व को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समाधि के लिए आधारभूत शील का यहां विवेचन किया जाये। शील का वास्तविक अर्थ जाने बिना उसका पालन करना अनर्थकारी ही होता है।

पालि के विभिन्न ग्रन्थों में शील का बहुविधवर्णन मिलता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में आरम्भिक शील, मध्यम शील एवं महाशील का विस्तृत वर्णन किया गया है।[1] उनमें से सभी उपयोगी शीलों को संक्षेप में निम्नलिखित दस प्रकारों में समाविष्ट किया जाता है, जो इस प्रकार है—[2]

(1) प्राणातिपात से विरति
(2) अदत्तादान से विरति
(3) अब्रह्मचर्य से विरति
(4) मृषावाद से विरति
(5) सुरामद्यमैरेय के सेवन से विरति
(6) अकाल भोजन से विरति
(7) नृत्य, गीत, वाद्य से विरति
(8) माल्य, गन्ध, विलेपन से विरति
(9) उच्चाशयन, महाशयन से विरति
(10) जातरूप-रजत के प्रतिग्रह से विरति

इन दस विरतियों में से उपासक के लिए प्रारम्भ की पांच विरतियों का विधान है, जिन्हें पंचशील शब्द से जाना जाता है। भिक्षुओं के लिए उक्त सभी

---

1. (दी० नि० खण्ड I, पृ० 55–62)
2. (खु० नि० खण्ड I, पृ० 3–4)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दस विरतियों से सम्पन्न रहने का विधान है।[1] कारण, इन विरतियों से धारक के मन, वचन तथा काय में पवित्रता आती है।

शील शब्द का अर्थ

"शील" का अर्थ है सदाचार। जिसके आधार पर मनुष्य में संयम रूप सद्गुण ठहरता है, उसे 'शील' कहा जाता है। शील से अनाचार का विनाश एवं सदाचार का ठहराव होता है। शील की विशुद्धता ही उसको ज्ञापित करती है। यह सदाचार रूप शील लज्जा और संकोच से उत्पन्न होने पर ही स्थिर होता है। अतः शील (सदाचार) के इच्छुक व्यक्ति को लज्जा तथा संकोच से युक्त होना चाहिये। शील के पालन करने से प्राप्त होने वाले विभिन्न लाभों का उल्लेख मिलता है। इनमें से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि शीलवान् व्यक्ति को अपने किये गये कार्यों पर पश्चाताप नहीं होता है।[2]

शील के विविध प्रकार

शील बहुत प्रकार का होता है। उदाहरणस्वरूप वह शीलन (अच्छे आचार का आधार होना) के अर्थ में एक प्रकार का होता है; चारित्र-वारित्र, विरति-अविरति आदि भेदों से दो प्रकार का होता है; हीन-मध्यम-उत्तम, आत्माधिपत्य-लोकाधिपत्य-धर्माधिपत्य आदि भेदों से तीन प्रकार का होता है; हानिभागीय–स्थितिभागीय–विशेषभागीय–निर्वेधभागीय; प्रातिमोक्ष संवर–इन्द्रियसंवर–आजीवपारिसुद्धि–प्रत्ययसंनिश्रित आदि भेदों से चार प्रकार का होता है तथा प्रहाण–वेरमणी–चेतना–संवर–अनुल्लंघन आदि भेदों से पांच प्रकार का होता है।[3]

यदि शील के उक्त सभी प्रकारों का वर्णन किया जाये तो उससे अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। कारण, यहाँ अभिप्रेत अर्थ योग-साधना है। शील के सभी प्रकारों के वर्णन से अभीष्ट प्रयोजन में विक्षेप भी उत्पन्न हो सकता है। अतः 'इध भिक्खु सीलसम्पन्नो होति' 'इध अरियसावको सीलसम्पन्नो होति पातिमोक्खसंवरसंवुतो'[4] आदि वाक्यों में योगी का जो आर्य शील अभीष्ट है, यहाँ योग साधना के प्रसंग में उसी का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

---

1. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 19
2. अविप्पटिसारत्थानि खो, आनन्द, कुसलानि सीलानि अविप्पटिसारानिसंसानी ति।
(अं० नि० खण्ड 4, पृ० 107)
3. विसु० खण्ड 1, पृ० 39–40
4. (म० नि० खण्ड 1, पृ० 265; खण्ड 2, पृ० 21 आदि।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगी का चतुर्विध शील

बौद्ध धर्म में समाधि एवं प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए योग-साधना में रत भिक्षु को इन चार प्रकार के शीलों में विशुद्धि से सम्पन्न होने का निर्देश दिया गया है—

1. प्रातिमोक्षसंवरशील,
2. इन्द्रियसंवरशील,
3. आजीवपारिशुद्धिशील तथा
4. प्रत्ययसंनिश्रितशील ।[1]

1. प्रातिमोक्षसंवरशील

जब भिक्षु प्रातिमोक्षसंवर से युक्त होता है, आचार एवं गोचर से सम्पन्न होता है, अणु मात्र (अत्यन्त सूक्ष्म) दोषों से भी भय देखता है और शिक्षापदों को भली-भाँति सीखता है तो उस भिक्षु के शील को प्रातिमोक्षसंवर शील कहते है ।[2]

यहाँ प्रातिमोक्ष का अभिप्राय भगवान् बुद्ध द्वारा भिक्षुओं के लिए प्रज्ञप्त शिक्षापदों से है । चूँकि पालने वाले व्यक्ति को ये शिक्षापद अपाथ आदि दुःखों से मुक्त कराते हैं । अतः उन शिक्षापदों को प्रातिमोक्ष कहा जाता है । संवर का तात्पर्य है—ढंकना । जब भिक्षु काय एवं वचन से उन शिक्षा पदों का उल्लंघन न करता हुआ रहता है, तब उसे प्रातिमोक्षसंवर से संवृत कहा जाता है ।[3] सारांश यह है कि बौद्ध योगी को शिक्षापदों का काय और वचन से पालन करना चाहिये ।

भिक्षु को आचार और गोचर से सम्पन्न रहना चाहिये । यहाँ आचार का अर्थ है – काय तथा वचन द्वारा नियम का उलंघन न करने रूप आचरण[4]

---

1. पातिमोक्खसंवरसीलं, इन्द्रियसंवरसीलं, आजीवपारिसुद्धिसीलं, पच्चयसन्निस्सितसीलं चेति चतुपारिसुद्धिसीलं सीलविसुद्धि नाम । (अभिध० खण्ड 2, पृ० 920.)
2. सम्पन्नसीला, भिक्खवे, विहरथ सम्पन्नपातिमोक्खा; पातिमोक्खसंवरसंवुता विहरथ आचार-गोचरसम्पन्ना अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्साविनो समादाय सिक्खथ सिक्ख सिक्खापदेपु (म० नि० खण्ड 1, पृ० 41)
3. एत्थ पातिमोक्खं ति सिक्खापदं तं हि यो नं पातिरक्खति, तं मोक्खेति तस्मा पातिमोक्खं ···संवरणं संवरो···तेन संवुतो··· (विसु० खण्ड 1, पृ० 53–54.)
4. सब्बो पि सीलसंवरो आचारो । (वही पृ० 56.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा गोचर का अर्थ है—भिक्षा आदि के लिए जाने योग्य स्थान।[1] योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा कार्य तथा व्यवहार करे जिससे नियमों का उल्लंघन न हो तथा उनकी महिमा धूमिल न हो।

भिक्षु के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी जीविका बुद्धसम्मत साधनों एवं विधानों के अनुसार ही अर्जित करे। किसी को कुछ देकर, सेवा-शुश्रूषा करके अथवा सच-झूठ बोलकर अर्जित की जाने वाली जीविका नियमविरुद्ध होने से अनाचार है। संघ में भी उसे काय एवं वचन के आचार से युक्त होना चाहिये।

संघ में अशिष्टतापूर्वक स्थविर भिक्षुओं से घिसते हुए खड़ा होना तथा बैठना, उनके सामने खड़ा होना तथा बैठना, ऊँचे आसन पर बैठना तथा शिर को ढंककर बैठना कायिक अनाचार समझा जाता है। इसी प्रकार खड़े होकर बोलना, हाथ झाड़-झाड़कर बोलना, स्थविर भिक्षुओं के बिना जूते टहलते समय जूते पहिनकर टहलना, स्थविर भिक्षुओं के नीचे टहलते समय ऊपर टहलना, स्थविर भिक्षुओं से सटकर बैठना, अग्निशाला में बिना पूछे लकड़ी छोड़ना, दरवाजा बन्द करना, घाट पर नहाते समय तथा गृहस्थों के घरों को जाते समय स्थविर भिक्षुओं के प्रति असम्मान-प्रदर्शन करना, कुलों में स्त्रियों के बैठने के स्थान पर बिना किसी हिचक के चले जाना आदि भी भिक्षु का कायिक अनाचार होता है।[2]

संघ में स्थविर भिक्षुओं से बिना पूछे धर्मोपदेश देना, प्रश्न का उत्तर देना, प्रातिमोक्ष का पाठ करना, खड़े-खड़े बोलना, हाथ झाड़कर बोलना, कुल स्त्री का नाम ले लेकर खाने-पीने के विषय में पूछना वाचनिक अनाचार माना जाता है।[3]

उक्त कायिक और वाचनिक अनाचार को न करके पहनने-ओढ़ने में, जाने-आने में, देखने-भालने में, अंगों को समेटने-पसारने में लज्जा एवं संकोच से युक्त होकर योगी भिक्षु को इन्द्रियों में संयम रखनेवाला, भोजन की मात्रा को जानने वाला होना चाहिये। उससे इच्छा-रहित, सन्तोषी तथा उद्योगी होना चाहिए।

---

1. गोचरो ति पिण्डपातादीनं अत्थाय उपसंकमितुं युत्तट्ठानं।
(विसु० (परम०) खण्ड 1, पृ 56.)

2. (वही, पृ० 55, 57.)
3. (वही, पृ० 60.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे सदैव स्थविर भिक्षुओं एवं बड़े लोगों के प्रति गौरव का प्रदर्शन करते हुए विचरण करना चाहिये।[1]

जहाँ तक अगोचर का प्रश्न है योगी भिक्षु के लिए पिण्डपातादि (भिक्षा आदि) के लिए जाते समय वेश्या, विधवा, कुमारी, भिक्षुणी, नपुंसक, शराब-खाना, राजा, राज्य-महामात्य, अन्य मतावलम्बी, अनुचित गृहस्थ, श्रद्धारहित कुल आदि जगह जाना तथा वहाँ अनुचित लगाव रखना योगी के लिए अगोचर है।[2]

योगी के गोचरों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—उपनिश्रय गोचर, आरक्ष्य गोचर तथा उपनिबन्ध गोचर। उपनिश्रय गोचर से वह कल्याण-मित्र अभिप्रेत है जिससे बिना सुनी हुई बात को सुनता है, सुनी हुई बात को पक्की करता है, सन्देह मिटाता है तथा जिसका अनुकरण कर अपने में श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग एवं प्रज्ञा में वृद्धि करता है। आरक्ष्य गोचर से योगी के द्वारा गोचर के समय पाला गया संयम अभिप्रेत है। योगी जब ग्राम में प्रवेश करे तब उसे संयम से जाना चाहिए। उसे अनर्थक वस्तुओं को देखने से विरत रहना चाहिये। चार स्मृतिप्रस्थानों में चित्त को बाँधना ही उपनिबन्ध गोचर है। भिक्षा आदि को जाते समय उसे चार स्मृति-प्रस्थानों के सहारे अपनी स्मृति उपस्थित रखना चाहिये और अप्रमादी होना चाहिये।[3]

अल्प मात्र के दोषों में भय खाना भी प्रातिमोक्षसंवर का एक अंग है। इसी प्रकार सीखने योग्य शिक्षा पदों को सीखना भी आवश्यक है। छोटे से दोष में भय देखने से तथा शिक्षापदों के सीखने से प्रातिमोक्षसंवर शील सुदृढ़ होता है।

यह प्रातिमोक्षसंवर शील श्रद्धाप्रधान होता है। श्रद्धासम्पन्न भिक्षु ही इसका पालन कर सकता है। कारण कि यह बतलाये गये शिक्षापदों का प्रतिक्षेप न करके श्रद्धापूर्वक इनका पालन करता है। भगवान् बुद्ध ने भी अपना उत्तरा-

---

1. (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 62; विसु० खण्ड 1, पृ० 60–61.)
2. (अं० नि० खण्ड 2, पृ 384; विसु० (परम०) खण्ड 1 पृ० 57.)
3. गोचरोपन तिविधो—उपनिस्सयगोचरो आरक्खगोचरो उपनिबन्धगोचरो ति।···
(विसु० खण्ड 1, पृ० 61–62.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धिकारी नियुक्त न कर इन्हीं शिक्षापदों को पालन करने का भिक्षु-भिक्षुणी संघ को निर्देश दिया था।[1]

प्रातिमोक्षसंवरशील के द्वारा केवल काय एवं वचन का संवरण किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मन में विकार आने पर भी प्रातिमोक्षसंवरशील का अंग नहीं होता है।[2]

2 इन्द्रियसंवरशील

इन्द्रियों का संवरण करने वाला शील इन्द्रियसंवरशील कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियों से रूप आदि विषयों को ग्रहण कर इन्द्रियों का संवरण करनेवाले योगी को न तो उनमें शुभ निमित्तों को ग्रहण करना चाहिये और न ही उन्हें प्रकट करनेवाले आकार विशेष को ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार योगी विषयों के निमित्त एवं अनुव्यञ्जनों को न ग्रहण कर स्मृतिपूर्वक अपने अन्दर विषयजन्य लोभ, द्वेष आदि विकारों को नहीं आने देता है। फलतः इन्द्रिय से उत्पन्न विकारों से वह सुरक्षित होता है।[3] इन्द्रियसंवरशील को सुस्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण सहायक होगा। एक कुलवधू अपने पति से झगड़कर अच्छी तरह से सज-धज कर अपनी माँ के घर जा रही थी। मार्ग में उसे एक भिक्षु मिला। स्त्री ने भिक्षु को देखकर कामासक्त होकर जोरों से लुभावनी हँसी की। भिक्षु ने हँसती हुई स्त्री के दाँतों को देखकर उनमें हड्डियों के समूह रूप विचार को किया। जब अपनी पत्नी को खोजते हुए उसके पति ने भिक्षु से पूछा कि क्या आपको कोई स्त्री दिखी है ? तो भिक्षु ने उत्तर दिया कि मैंने इस मार्ग से जाती हुई स्त्री को नहीं देखा है। हाँ एक हड्डियों के समूह को अवश्य जाते हुए देखा है।[4]

इन्द्रियसंवरशील स्मृति प्रधान होता है। जब योगी इन्द्रियों के विषय से उत्पन्न होने वाली बुराईयों का सतत् स्मरण करता है तभी वह इस शील की रक्षा

---

1. सद्धाय पातिमोक्खसंवरो सम्पादेतब्बो। वही, पृ० 97.

2. अभिध० खण्ड 2, पृ० 921.

3. इध, महाराज, भिक्खु चक्खुना रूपं दिस्वा न निमित्तगाही होति नानुब्यंजनग्गाही। ...एव खो, महाराज, भिक्खु इन्द्रियेसु गुत्तद्वारो होति। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 62)

4. नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसोवाइतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छतेस महापथे॥ (विसु० खण्ड 1 पृ० 67)

6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने में सफल हो पाता है। यदि स्मृति में दृढ़ता का अभाव है, तो योगी एकान्त में रहते हुए भी इस इन्द्रियसंवरशील से च्युत हो सकता है।[1]

इन्द्रियसंवरशील का अपना विशेष महत्व है। इन्द्रिय-द्वारों के ठीक से बन्द न रहने से अनेक दोष अन्दर आ सकते हैं और उनसे प्रातिमोक्ष संवर भी नष्ट हो सकता है। अतः योगी को चाहिये कि वह इन्द्रिय-द्वारों का ठीक से संवरण करे। उदाहरणस्वरूप नगर के मुख्यद्वार खुले रहने पर चोरों का नगर में आना सम्भव हो जाता है। तत्पश्चात् वे नगर के अन्दर सुरक्षित रखी हुई वस्तुओं को ले जाने में सफल हो जाते हैं। किन्तु यदि नगर के द्वार अच्छी तरह से बन्द रहते हैं तो नगर में असुरक्षित रूप से भी रखी हुई वस्तुओं को चोर नहीं ले जा सकते हैं। उसी प्रकार इन्द्रियसंवरसम्पन्न भिक्षु का प्रातिमोक्षसंवरशील सुरक्षित रहता है। किन्तु इन्द्रियसंवर से रहित भिक्षु का अच्छी तरह से पालित प्रातिमोक्ष-संवरशील जल्दी ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी तथ्य का उपदेश देते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है कि—'गर्म लोहे की छड़ों से आँख को फोड़ लेना उत्तम है' किन्तु उन आँखों से रूप के निमित्त को ग्रहण करना उत्तम नहीं है।[2] सारांश यह कि इन्द्रियसंवरशील योगी को मानसिक विकारों से अलग रखता है। अतः इसका पालन करना योग-साधना के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

3. आजीवपारिशुद्धिशील

जीविकोपार्जन के लिए किये जाने वाले कायिक एवं वाचनिक कार्य आजीव कहलाते हैं। अतः आजीव के लिए कायिक एवं वाचनिक कर्मों की शुद्धता में जो शील कारण है, उसे आजीवपारिशुद्धिशील कहते हैं। आजीव से सम्बन्धित जिन छः शिक्षापदों का विधान किया गया है, उनके पालन करने से इस शील में विशुद्धि आती है। ये छः शिक्षापद इस प्रकार हैं—[3]

(1) आजीव के लिए अविधमान, असत्य, अलौकिक शक्ति की बात न करना।

---

1. सतिया इन्द्रियसंवरो सम्पादेतब्बो (वही, पृ० 99)
द्रष्टव्य अभि० खण्ड 2, पृ० 921.

2. वरं, भिक्खवे, तत्ताय अयोसलाकाय···चक्खुन्द्रियं सम्पलिभट्ठ, नत्वेव चक्खुविञ्ञेय्येसु रूपेसु अनुव्यञ्जनसो निमित्तग्गाहो··· (सं० नि० खण्ड 3, पृ० 152)

3. (विसु० खण्ड 1, पृ० 71)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(2) आजीव के लिए किसी स्त्री का सन्देश पुरूष के पास अथवा पुरूष का सन्देश स्त्री के पास न पहुँचाना।

(3) आजीव के लिए 'जो तेरे विहार में रहता है, वह अर्हत है'—इस प्रकार न कहना।

(4) आजीव के लिए बीमार न होने पर भी लोगों से कहकर अपने लिए उत्तम भोजन न वनवाना।

(5) आजीव के लिए भिक्षुणी द्वारा बीमार न होने पर लोगों से कहकर अपने लिए उत्तम भोजन न बनवाना।

(6) आजीव के लिए बीमार न होने पर लोगों से कहकर सूप या भात न खाना।

उक्त छः शिक्षापदों के अतिरिक्त भिक्षु को आजीव के लिए ठग, वातूनी दूसरों को निमित्त बनाकर वात करने वाला, दूसरों को भला-बुरा कहनेवाला तथा लाभ से लाभ की इच्छा वाला नहीं होना चाहिये।[1]

कोई-कोई बुरी इच्छावाला भिक्षु प्रत्ययों (चीवर, पिण्डयात, शयन-आसन आदि) को लेने से इसलिए मना कर देता है कि वैसा करने से उसे और अधिक प्रत्ययों की उपलब्धि होगी। कोई-कोई भिक्षु अधिक सम्मान की लालसा से लोगों को आश्चर्य में डालने वाले अपने मनोभावों को दर्शाता है। कुछ अर्हत् जैसी अपनी चाल-ढाल बनाते हैं। इस प्रकार आजीव के हेतु लोगों को विस्मय में डालने वाले व्यवहार का प्रदर्शन करना वञ्चना है और इससे आजीव पारिशुद्धिशील को क्षति पहुँचती है। बातूनी होकर भी कुछ भिक्षु अपनी आजीव का अर्जन करते हैं। बातूनीपन से वह उपासक को इस प्रकार बाँध लेता है कि इच्छा न होने पर भी उपासक उसे दान देने को विवश हो जाता है। कभी-कभी कुछ भिक्षु आजीव के लिए व्यंग-वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी आक्रोशपूर्ण बात कहकर भी आजीवोपार्जन किया जाता है। यदा-कदा लाभ से और अधिक लाभ उठाने की प्रवृति भी देखी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ तपस्वी निरर्थक विद्याओं से अपनी आजीविका-उपार्जन करते थे।[2] इन सभी प्रकारों से प्राप्त आजीव अपरिशुद्ध होता है। अतः योगी भिक्षु को आजीव के लिए काय और वचन से अशुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

---

1. एवं कुहनलपना पटिविरतो समणो गोतमो

(दी० नि० खण्ड 1, पृ० 9-10.)

2. (विभंग पृ० 419.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजीवपारिशुद्धिशील वीर्य-प्रधान होता है। वीर्य के अभाव में प्रत्ययों की अनायास प्राप्ति के लिए ही कुछ भिक्षु ठग, चापलूसी आदि का सहारा लेते हैं। इससे यह शील दूषित हो जाता है। अतः योगी को आजीवपारिशुद्धि शील के लिए वीर्यसम्पन्न होना चाहिये।[1]

4. प्रत्ययसंनिश्रित शील

चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा भैषज्य-इन चार प्रत्ययों का भली-भाँति विचार करके ही सेवन करना प्रत्ययसंनिश्रित शील है। आजीव पारिशुद्धि शीलपूर्वक प्राप्त चीवर आदि चार प्रत्ययों को सेवन करते समय यदि उचित विचार न किया जाये तो वे प्रत्यय भिक्षु की योग-साधना में बाधक सिद्ध होते हैं। अतः भिक्षु का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्ययों का सेवन करने के पूर्व उनके विषय में पूर्वापर विचार अवश्य करे।

चीवर का सेवन करते समय उसे यह विचारना चाहिये कि वह ठण्ड, गर्मी, डंस, मच्छर, वायु, धूप, सरीसृप आदि से उत्पन्न होनेवाले विघ्नों को दूर करने के लिये ही चीवर धारण कर रहा है। चीवर धारण करने का सबसे बड़ा प्रयोजन लज्जा उत्पन्न करनेवाले अंगों को ढँकना होना चाहिये। इस प्रकार के विचार से जो भिक्षु चीवर धारण करता है, उसे चीवर के कारण किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता।[2]

भिक्षु के पात्र में जो भिक्षान्न प्राप्त होता है, उसका सेवन करते समय उसे इस विचार को मन में लाना चाहिये कि चूँकि शरीर की स्थिति और जीवन व्यतीत करने के लिए भिक्षान्न का सेवन आवश्यक है, अतः वह भिक्षान्न खाता है। यदि इस प्रकार के विचार को किये बिना वह भिक्षान्न का सेवन करेगा तो सम्भव है वह भिक्षान्न का सेवन क्रीड़ा, शक्ति, मद, मण्डन, विभूषण आदि के लिये करने लगे। जिससे प्रत्ययसंनिश्रित शील भंग हो सकता है।[3]

---

1. तथा विरियेन आजीवपारिसुद्धि सम्पादेतब्बा।
वीरियसाधना हि सा, समारद्धविरियस्स मिच्छाजीवप्पहानसम्भवतो।
(विसु० खण्ड 1, पृ० 105.)
2. इध भिक्खवे, भिक्खु पटिसंखा योनिसो चीवरं पटिसेवति—यावदेव सीतस्स पटिघाताय · यावदेव हिरिकोपीनप्पटिच्छादनत्थ।
(म० नि० खण्ड 1, पृ० 14)
3. पटिसंखा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवतिनेव दवाय न मदाय न मण्डनाय· यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय।
(वही, पृ० 15)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार शयनासन का सेवन वह सिंह, बाघ आदि से उत्पन्न प्रगट उपद्रवों एवं राग-द्वेष आदि अप्रगट उपद्रवों को दूर करने की दृष्टि को मन में रखकर ही करे।[1]

रूग्ण होने पर शरीर अधिक दिनों तक नहीं चल सकता है तथा जब तक शरीर है रूग्णावस्था में किसी प्रकार की योग-साधना नहीं की जा सकती है—इस प्रकार का विचार कर ही भैषज्य का सेवन करना चाहिये।[2]

यह प्रज्ञा-प्रधान शील है। चूँकि प्रत्ययों का प्रत्यवेक्षण प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है तथा प्रत्यवेक्षण के बिना यह शील ठहर नहीं सकता है। अतः इस शील के लिये प्रज्ञा का होना आवश्यक है।[3]

योगी के पूर्वोक्त प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील—इन चार शीलों में यदि कभी कोई विकृति आ जाये तो उसे विशुद्ध करने के निम्नलिखित चार उपायों का विधान किया गया है—[4]

देशनाशुद्धि

जब प्रातिमोक्षसंवरशील भङ्ग हो तो भिक्षु अपने साथ रहनेवाले भिक्षु से कह दे। आपत्ति की देशना से उसके शील में पुनः विशुद्धि आ जाती है। अतः यह देशना-विशुद्धि कही जाती है। देशना-विशुद्धि से प्रातिमोक्षसंवरशील के विशुद्ध हो जाने पर योग-साधना में सम्भावित विघ्न नष्ट हो जाते हैं।[5]

---

1. (क) सेनासनं परिसेवति···यावदेव उतुपस्सियविनोदनपटिसल्लानारामत्थं।
   वही,
   (ख) परिस्सयो पन दुविधो···पाकटपरिस्सयो सीह ब्यग्घादयो पटिच्छन्नपरिस्सयो रागदोसादयो।
   (विसु० खण्ड 1, पृ० 94)
2. (म० नि० खण्ड 1 पृ० 15)
3. तथा पच्चयनिस्सितसीलं प य सम्पादेतब्बं। प साधनं हि ते···
   (विसु० खण्ड 1, पृ० 110)
4. अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 923.
5. तत्थ देसनासुद्धि नाम पातिमोक्खसंवरसीलं।
   तं च देसनाय सुज्झनतो देसनासुद्धीति वुच्चति।
   (विसु० खण्ड 1, पृ० 112)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवरशुद्धि

यदि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न राग, द्वेष आदि से इन्द्रियसंवर-शील में कोई विकृति आ जाये तो 'पुनः ऐसा नहीं होगा' इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से वह शुद्ध हो जाती है।

पर्येष्टिशुद्धि

यदि आजीवपारिशुद्धि शील में कभी कोई विकृति आ जाये तो मिथ्या प्रकारों को त्याग कर धर्मपूर्वक आजीव का अन्वेषण करने से वह विकृति शुद्ध हो जाती है।

प्रत्यवेक्षण शुद्धि

यदि प्रत्ययसंनिश्रितशील में कहीं कोई विकृति आ जाये तो प्रज्ञा से भलीं-भाँति विचार कर उसे दूर किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार चार शुद्धि से शीलों को शुद्ध करके पालने से शीलों में विशुद्धि वनी रहती है।

धुतांग

योगी को शील का अच्छी तरह से परिपालन करने के लिए धुतांगों का का ग्रहण करना चाहिये। कारण, धुतांगों से अल्पेच्छता, संतुष्टि आदि गुणों का विकास होता है तथा परिशुद्ध शील के लिये उक्त गुण अत्यंन्त आवश्यक होते हैं।[2]

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म में योग-साधना के लिये धुतांगों के ग्रहण की मान्यता अपेक्षाकृत बाद की है। जब भगवान् बुद्ध के संघ में ब्राह्मणों की संख्या बढ़ने लगी, तो बौद्ध धर्म में ब्राह्मणों का प्रभाव भी बढ़ने लगा। वैदिक धर्म के चार आश्रम की तरह बुद्ध के धर्म में भी गृहपति, श्रामणेर, भिक्षु और आरण्यक—ये चार परिषदें बन गयीं। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार तापसों को वैखानस कहा जाता था। बुद्ध के संघ में भी कुछ भिक्षुओं ने वैखानसों के नियमों का पालन करना प्रारम्भ कर दिया। इन नियमों को धुतांग की संज्ञा

---

1. (वही पृ० 112–113; अभिध० खण्ड 2, पृ० 923–924)
2. ···ते गुणे सम्पादेतुं यस्मा समादिण्णसीलेन योगिना धुतंगसमादानं कातब्बं।
(विसु० खण्ड 1, पृ० 143)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दी गयी ।[1] चुल्लावग्ग के अनुसार एक बार देवदत्त ने भगवान् बुद्ध से संघ के सदस्यों के लिये पाँच नियमों के विधान का आग्रह इसलिये किया था कि बुद्ध उन नियमों का विधान नहीं करेंगे और संघ में फूट पड़ जायेगी। इन पाँच नियमों में से चार इस प्रकार थे—भिक्षु जीवनपर्यन्त आरण्यक हों, पिण्डपातिक हों, पांशुकूलिक हों तथा वृक्षमूलिक हों। भगवान् बुद्ध ने देवदत्त की बात को न मानकर उसे संघ-भेद से विरत रहने का निर्देश दिया था। इसी प्रकार परिवार नामक विनय-ग्रन्थ में धुतांगों की निन्दा भी की गयी है।[2] किन्तु बाद में धुतांगों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा अभिधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में इनकी प्रशंसा की जाने लगी।[3] भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद धुतांग समर्थक महाकाश्यप संघ के प्रमुख बन गये और बौद्ध धर्म की योग-साधना में धुतांगों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाने लगा।[4]

धुतांग का अर्थ

जो क्लेशों को नष्ट कर देते हैं उनके अंग को धुतांग कहते हैं। इसी प्रकार जो परिशुद्ध (धुत) भिक्षु के अंग हैं उन्हें धुतांग कहते हैं। क्लेशों को धुन डालने वाले ज्ञानांग होने से भी ये धुतांग कहे जाते हैं।[5] धुतांग तेरह प्रकार के होते हैं—पांशुकूलिकांग, त्रैचीवरिकांग, पिण्डपातिकांग, सापदानचारिकांग, एकासनिकांग, पात्रपिण्डिकांग, खलुपच्छाभत्तिकांग, आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग, अभ्यवकाशिकांग, श्मशानिकांग, यथासंस्थरिकांग तथा नैसाद्यकांग।[6] इन धुतांगों के गुण एवं महत्त्व का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि इन धुतांगों का संक्षिप्त विवेचन कर दिया जाये।

---

1. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 11–12.
2. साधु, भन्ते, भिक्खू यावजीवं आरञ्ञिका · पिण्डपातिका·· पंसुकूलिका···रुक्खमूलिका · अस्सु···अलं देवदत्त। भा ते रूच्चि संघभेदो। गुरुको खो, देवदत्त, संघभेदो ति।

   (चुल्ल० पृ० 298–299)
3. (विसु० खण्ड 1, पृ० 143–185; मिलिन्द० पृ० 248–254)
4. पज्जमधु (भूमिका) पृ० 9.
5. सब्बानेव पनेतानि धुतकिलेसत्ता···किलेसधुननतो वा धुतं ति लद्धवोहारं ञाणं अंग एतेसं ति धुतंगानि

   (विसु० खंड 1, पृ० 147)
6. वही, पृ० 144.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1. पांशुकूलिकांग

जो कपड़े व्यर्थ समझकर धूल में फेंक दिये गये हों उन्हें पांशुकूल कहते हैं। ऐसे कपड़ों को भी पांशुकूल कहा जाता है जिनके किनारे धूल के समान छिन्न-भिन्न हो गये हों अथवा जो धूल के समान कुत्सित अवस्था को प्राप्त हो चुके हों। इस प्रकार के कपड़ों को धारण करनेवाला योगी पांशुकूलिक कहलाता है। उस योगी के शील में चूंकि पांशुकूलिक होना ही कारण है, इसलिये उसके शील को पांशुकूलिकांग कहा जाता है।[1]

पांशुकूलिकांग योगी अपने शील को इस निश्चय के साथ धारण करता है कि वह गृहस्थों के द्वारा दिये गये चीवरों का त्याग करता है अथवा वह गृहस्थों के द्वारा धूल में फेंके गये कपड़ों को ही चीवर के रूप में धारण करेगा। पांशुकूलिकांग योगी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु। इनमें से श्मशान में पड़े वस्त्रों को ही ग्रहण करनेवाला उत्कृष्ट, 'कोई प्रव्रजित ले लेगा' इस विचार से रखे गये वस्त्र को ग्रहण करने वाला मध्यम तथा पैर पर रखकर दिये गये वस्त्र को स्वीकार करने वाला मृदु कहा जाता है।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाला योगी चीवर के विषय में अल्पेच्छता एवं सन्तुष्टि से सम्पन्न हो जाता है। उसे न तो उन वस्त्रों की रक्षा करने की चिन्ता होती है और न ही उनमें परिभोग के समय किसी प्रकार की तृष्णा होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे वस्त्र सुलभ एवं निर्दोष होने से योगी के अनुरूप होते हैं।[2]

2. त्रैचीवरिकांग

जो योगी तीन ही चीवरों को ग्रहण करने का व्रत लेता है, उसके शील को त्रैचीवरिकांग कहते हैं। इन तीन चीवरों में संघाटी, अन्तरवासक तथा उत्तरासंग नामक चीवरों की गणना की जाती है।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाले भी योगी तीन प्रकार के होते हैं - उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु। वस्त्र को रंगने के समय जो पहले अन्तरवासक या उत्तरासंग को रंगकर उसे पहिन दूसरे को रंगता है, तत्पश्चात् उसे भी धारण कर संघाटी रंगता है—इस प्रकार के योगी को उत्कृष्ट कहा जाता है। रंगने वाले घर में एक चीवर के रंगे जाने पर उसे धारण कर दूसरे चीवर को रंगने

---

1. (वही, पृ० 149–150)
2. (वही, पृ० 151.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाला मध्यम तथा मेल-जोल वाले भिक्षुओं के चीवर धारण कर अपने चीवरों को रंगने वाला योगी मृदु कहलाता है।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाला योगी धारण किये गये चीवरों से ही सन्तुष्ट रहता है, जहाँ-कहीं जाता है, तीनों चीवरों को लेकर जाता है। उसे अधिक चीवर प्राप्त करने की लालसा नहीं होती। इससे उसमें अल्पेच्छता गुण विकसित होता है।[1]

3. पिण्डपातिकांग

भिक्षा के लिए भ्रमण का शील धारण करने वाले योगी के शील को पिण्डपातिकांग कहा जाता है। ऐसा योगी जो केवल वही भिक्षा ग्रहण करता है जो उसके पात्र में गिरती है। वह सांघिकभोजन, उद्देश्यभोजन, निमन्त्रण, शलाका-भोजन, पखवारे का भोजन, उपोसथ-भोजन, प्रतिपदा-भोजन, आगन्तुक-भोजन, गमिक-भोजन, रुग्ण व्यक्ति को तैयार किया गया भोजन, विहार में दिया जाने वाला भोजन आदि चौदह प्रकार के भोजनों को ग्रहण नहीं करता है।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाले योगी भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम तथा मृदु। खड़े होकर ही भिक्षा ग्रहण करने वाला उत्कृष्ट, बैठकर भी भिक्षा ग्रहण करने वाला मध्यम तथा अगले दिन के लिए भी शिक्षा ग्रहण करने वाला मृदु कहलाता है।

इस धुतांग को ग्रहण करनेवाले भिक्षु का आलस्य नष्ट हो जाता है। वह आहार की लोलुपता से रहित होकर परिशुद्ध आजीविका तथा अल्पेच्छ गुण से सम्पन्न होता है। वह सुमर होता है तथा रसास्वादन की तृष्णा से रहित होता है।[2]

4. सापदानचारिकांग

जो योगी बिना किसी घर को छोड़े भिक्षा ग्रहण करता है, उसके शील को सापदानचारिकांग कहते हैं। योगी गाँव या गली में घुसते समय यह विचार ले कि वह गाँव या गली उपद्रव-रहित है। तत्पश्चात् उसे बिना कोई घर छोड़े पिण्डपात के लिये भ्रमण करना चाहिए। अगर एक घर में कुछ नहीं मिलता तो वहाँ गाँव न होने का विचार कर अगले घर जाना चाहिये। किन्तु अगर किसी

---

1. (वही, पृ० 153–154)
2. (वही, पृ० 155–157)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घर से भिक्षा मिले तो उसे छोड़कर अगले घर नहीं जाना चाहिये इसी प्रकार पहले गाँव में भिक्षा उपलब्ध होने पर उसे छोड़कर दूसरे गाँव में भिक्षाटन नहीं करना चाहिये।

सापदानचारिकांग भी तीन प्रकार का होता है—उत्कृष्ठ, मध्यम एवं मृदु। प्राप्त दरवाजे पर पात्र देकर भिक्षा ग्रहण करने वाला उत्कृष्ट, आगे पीछे से लायी गयी भिक्षा को ग्रहण करने वाला मध्यम तथा बैठकर भिक्षा को जोहने वाला मृदु कहलाता है। लोलुपता उत्पन्न होते ही यह धुतांग टूट जाता है।

इस धुतांग का धारक भिक्षु कुलों में नित्य नया बना रहता है, सर्वत्र अनासक्त एवं सौम्य रहता है, किसी भी कुल में अच्छे-बुरे भाव नहीं रखता है तथा निमन्त्रण को चाहने वाला नहीं होता है।[1]

5. एकासनिकांग

एक ही आसन पर बैठकर भोजन करने वाले योगी के शील को एकासनिकांग कहते हैं। आसन ग्रहण करते समय विचारपूर्वक अपने लिये बिछाये गये आसन पर ही उसे बैठना चाहिये।

यह धुतांग भी उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है। एक वार हाथ से छू लेने के बाद उसी भोजन को ग्रहण करने वाला उत्कृष्ट, भोजन के अन्त तक लेने वाला मध्यम तथा आसन से उठने तक ग्रहण करने वाला मृदु कहलाता है।

इस धुतांग का पालन करने वाला योगी निरोग रहता है, सुखपूर्वक जीता है, स्फूर्ति, वल तथा सुख से सम्पन्न होता है। अतिरिक्त भोजन करने से उत्पन्न होने वाली आपत्ति से रहित होता है, रसास्वादन की तृष्णा से रहित एवं अल्पेच्छ होता है।[2]

6 पात्रपिण्डिकांग

जब योगी केवल एक ही पात्र में विद्यमान पिण्डपात को ग्रहण करता है तो उस योगी के धुतांग को पात्रपिण्डिकांग कहते हैं, वह दूसरे पात्र की भिक्षा को किसी भी अवस्था में ग्रहण नहीं करता है।

---

1. (वही, पृ० 158–159.)
2. (वही, पृ० 160–161)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पात्रपिण्डिकांग के भी तीन प्रकार होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु। पात्र में पड़ी भिक्षा को बिना तोड़े खाने वाला उत्कृष्ट, एक हाथ से तोड़कर खाने वाला मध्यम तथा हाथ या दांत से तोड़कर खाने वाले को मृदु कहते हैं।

इस धुतांग का धारक नाना प्रकार के रसों की तृष्णा से दूर रहता है, भोजन की तीव्र इच्छा का त्यागी होता है, आहार में प्रयोजन मात्र को देखता है तथा अविक्षिप्त होकर भोजन करने वाला तथा अल्पेच्छ होता है।[1]

7. खलुपच्छाभत्तिकांग

जो योगी भोजन कर चुकने के बाद अतिरिक्त भोजन को ग्रहण नहीं करता है उसे खलुपक्छाभत्तिक कहते हैं। इस प्रकार के योगी के शील को खलुपच्छाभत्तिकांग कहते हैं।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाले योगी भी तीन प्रकार के होते हैं--उत्कृष्ट, मध्यम तथा मृदु। प्रथम भिक्षान्न को खाकर द्वितीय भिक्षान्न का प्रवारण करने वाले को उत्कृष्ट, प्राप्त भिक्षान्न को खाने वाला मध्यम तथा आसान से न उठने तक खाने वाला मृदु कहलाता है।

इस धुतांग का धारक अतिरिक्त भोजन करने से उत्पन्न दोषों से दूर रहता है, पेटू स्वभाव का नहीं होता है, भिक्षान्न का संचय नहीं करता है तथा अल्पेच्छ होता है।[2]

8. आरण्यकांग

ग्राम या नगर के शयनासन का त्यागकर अरण्य में रहने वाले योगी को आरण्यक कहा जाता है। उसके शील को आरण्यकांग कहा जाता है।

इस धुतांग के धारक भी तीन प्रकार के होते हैं--उत्कृष्ट, मध्यम तथा मृदु। अरूणोदय तक सर्वदा जंगल में रहने वाले को उत्कृष्ट, वर्षा के चार महीनों को छोड़कर शेष आठ माह अरूणोदय तक जंगल में रहने वाले को मध्यम तथा वर्षा एवं जाड़े के समय को छोड़कर शेष समय अरूणोदय तक जंगल में रहने वाले को मृदु कहा जाता है।

---

1. (वही, पृ० 161–163)
2. (वही, पृ० 163–164)

... दि. जैन (शोध) संस्थान
... सं० 4536
... नांक......
का. हि. वि. ...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस धुतांग को ग्रहण करने वाला योगी अप्राप्त समाधि को प्राप्त करता है, प्राप्त समाधि की रक्षा करता है, इसके चित्त को अनुचित रूप आदि किसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न नहीं करते हैं। वह भय-रहित होकर एकान्त सुख का अनुभव करता है।[1]

9. वृक्षमूलिकांग

छाये हुए स्थान का त्याग कर जो योगी वृक्ष के नीचे के भू-भाग को शयनासन (रहने के स्थान) के रूप में ग्रहण करता है उसे वृक्षमूलिक कहते हैं और उसके कारण वह वृक्षमूलिकांग होता है।

इस धुतांग के धारक भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु। इनमें से रूचि के अनुसार वृक्ष चुनकर उसे बिना साफ-सुथरा किये केवल गिरे हुए पत्तों को पैर से हटाकर रहने वाले को उत्कृष्ट, उस स्थान को आने वाले व्यक्तियों से साफ-सुथरा करवाने वाले को मध्यम तथा मठ के श्रामणेरों को बुलाकर वृक्ष के नीचे के भू-भाग को साफ करवाकर बालू छिड़कवाकर एवं चहारदीवारी बनवाकर रहने वाले को मृदु कहा जाता है।

इस धुतांग को धारण करने से प्रव्रज्या सार्थक होती है, वृक्षमूल सुलभ एवं निर्दोष होता है, वृक्ष की पत्तियों के विकारों को देखकर अनित्यता की प्रतीति होती है, शयनासन सम्बन्धी ईर्ष्याभाव एवं कामकाज से मुक्ति मिलती है, देवताओं का साथ होता है तथा अल्पेच्छ गुण का विकास होता है।[2]

10. अभ्यवकाशिकांग

छाये हुए स्थान तथा वृक्ष के मूल को त्यागकर खुले स्थान पर रहने वाले योगी को अभ्यवकाशिक कहते हैं। उसके द्वारा ग्रहण किया गया आचार अभ्यवकाशिकांग कहा जाता है। इस प्रकार का योगी धर्मश्रवण के लिये तथा उपोसथ के लिये उपोसथागार में जा सकता है। वर्षा होने पर उसे उपोसथागार में वर्षा बन्द होने तक रहना चाहिये। भोजनशाला या अग्निशाला में कार्य करने वाले योगी को बूढ़े भिक्षुओं को भात देने के लिये तथा पढ़ने-पढ़ाने के लिये छाये हुए स्थान में जाना चाहिये।

इस धुतांग को ग्रहण करने वाले भी उत्कृष्ट, मध्यम और मृदु के भेदों से

1. (वही, पृ० 164–168)
2. (वही, पृ० 168–170)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीन प्रकार के होते हैं। पेंड़, पहाड़ या घर के सहारे न रहने वाले उत्कृष्ट, पेंड़, पहाड़ या घर के सहारे खुली जगह में रहने वाले मध्यम तथा मर्यादा न काटी गयी गुफा, डालियों से वने मण्डप तथा खेत रखवालों की खाली झोपड़ी में रहने वाले मृदु कहलाते हैं।

इस धुतांग को धारण करने से आवास की बाधाओं का उपच्छेद, आलस्य का अभाव एवं घर-बार का अभाव होता है। इससे योगी की अल्पेच्छ एवं संतोष वृत्ति में वृद्धि होती है।[1]

11. श्मशानिकांग

श्मशान में रहने वाले योगी को श्मशानिक कहते हैं और उसके द्वारा ग्रहण किया गया आचार श्मशानिकांग कहलाता है। यह धुतांग कठिन होता है। अतः इसके धारक योगी को पहले संघस्थविर या राजकर्मचारी को जता देना चाहिये। चंक्रमण करते हुए आधी खुली हुई आंख से मुर्दा जलाने के स्थान को देखना चाहिये। दिन में ही आलम्बन को ठीक से मन में बैठा लेने से रात्रि भयानक नहीं होती है।

इस धुतांग के धारक भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और मृदु। जहाँ मुर्दे जलाये जाते हों, मुर्दा पड़े रहते हों तथा रोना पीटना लगा रहता हो, वहाँ रहने वाले उत्कृष्ट, उनमें से किसी एक विशेषता वाले स्थान पर रहने वाले मध्यम तथा उक्त प्रकार के श्मशान को पाने वाले मृदु कहलाते हैं।

इस धुतांग को रखने से मरने का विचार बना रहता है, अशुभ निमित्त का लाभ होता है, काम-राग दूर होता है, घमण्ड का ह्रास तथा भयानक वातावरण में सहनशीलता आती है। इन सबसे योगी के अल्पेच्छ गुण का विकास होता है।[2]

12. यथासंस्थरिकांग

योगी के लिये जो शयनासन यह कहकर दिया गया होता है कि 'यह तेरे लिये है', उसी से सन्तोष करने वाला यथासंस्थरिक कहलाता है और उसके आचार को यथासंस्थरिकांग कहा जाता है।

---

1. (वही, पृ० 170–172)
2. (वही, पृ० 172–175)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस धुतांग के धारक भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम तथा मृदु। दिये गये शयनासन के विषय में कुछ भी न पूछने वाले को उत्कृष्ट, पूछने वाले को मध्यम तथा जाकर देखने वाले को मृदु कहा जाता है।

इस धुतांग के धारण करने से मिले हुए में सन्तोष करने के उपदेश का पालन होता है, अपने साथ में रहने वालों का हितैषी होता है, हीन-उत्तम के विचार का त्याग होता है, अनुरोध एवं विरोध का विनाश होता है और अल्पेच्छ गुण का विकास होता है।[1]

13. नैषद्यकांग

जो योगी शयन का त्यागकर बैठे हुए अपनी साधना करता है उसे नैषद्यक कहते हैं और उसके आचार को नैषद्यकांग कहा जाता है। इस धुतांग का ग्रहण करने वाला योगी रात्रि के तीन प्रहरों में से एक प्रहर उठकर चक्रमण करता है। वह चार ईर्यापथों में से शयन का त्याग कर शेष तीन ईर्यापथों (बैठना, चलना तथा खड़ा होना) को अपनाता हुआ विहार करता है।

इस धुतांग के धारक भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम एवं मृदु।

इसको ग्रहण करने के कारण शय्या–सुख से उत्पन्न चित्त-वन्धन का विनाश होता है, सभी कर्मस्थानों में लगने में सरलता होती है तथा उद्योग करने का भाव होता है।[2]

उपर्युक्त तेरह धुतांगों में से दो (पांशुकूलिकांग तथा त्रैचीवरिकांग) धुतांग चीवर में अल्पेच्छता एवं संतुष्टि रूप गुणों का विकास करते हैं। पिण्डपातिकांग, सापदानचारिकांग, एकासनिकांग, पात्रपिण्डिकांग तथा खलूपच्छाभत्तिकांग—इन पाँच धुतांगों से पिण्डपात में विशुद्धि एवं अल्पेच्छता आती है। इसी प्रकार आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग, अभ्यवकाशिकांग, श्मशानिकांग तथा यथासंस्थरिकांग --इन पाँच धुतांगों से शयनासन में अल्पेच्छता एवं सन्तुष्टि के गुणों का विकास होता है तथा नैषद्यकांग से वीर्य का विकास होता है। ये सभी धुतांग अल्पेच्छता, सन्तुष्टिभाव, संलेख, प्रविवेक और ज्ञान के विकास में सहायक होती हैं जिससे प्रत्ययसंनिश्रित शील परिशुद्ध होता है।[3]

बौद्ध धर्म में साधनापरक जिन तीन शिक्षाओं का विवरण मिलता है, उन्हें देखने से यह सुस्पष्ट होता है कि इस धर्म में आत्मा को आधार बनाकर योग-साधना

1. (वही, पृ० 175–177)
2. (वही, पृ० 177–178)
3. (वही, पृ० 183–185)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का प्रतिपादन नहीं किया गया है। भगवान बुद्ध ने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया था, वही योग-साधना का भी मार्ग है। उस मार्ग का पालन किस क्रम से करना चाहिए—इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही वह आर्य अष्टांगिक मार्ग तीन भागों में विभक्त किया गया है। इनमें शील को योग-साधना का आधार बताया गया है। अगर कोई व्यक्ति दुराचरण से युक्त हो तो वह न तो समाधि रूप चित की एकाग्रता को प्राप्त कर सकता है और न ही प्रज्ञा के द्वारा संस्कारों के अनित्य, दुःख और अनातम स्वभावों को जान सकता है। जब तक संस्कारों के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान नहीं होता है, दुःख का निरोध होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार बौद्धधर्म में योग साधना के लिए शील को प्रमुख स्थान दिया गया है।

बौद्ध ग्रन्थों में शील सम्बन्धी उपदेश अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। इसका कारण यह था कि भगवान् बुद्ध ने सभी प्रकार के मनुष्यों को उनकी मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही उपदेश दिये थे किन्तु वे विभिन्न प्रकार के शील योग-साधना के लिए पर्याप्त नहीं हैं। योगी के लिये तो वही शील-देशना उपयोगी हो सकती है जो उसे साधना की धारा में न केवल पहुँचा दे अपितु उसमें आगे बढ़ने में भी सहायता दे सके।

योगी के लिए दी गयी शील-देशना में प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवर-शील, आजीवपारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील—इन चार प्रकार के शीलों की विशुद्धि का उपदेश दिया गया है। योग-साधना के इच्छुक भिक्षु को उसके प्रथम सोपान के रूप में उक्त चार शीलों में विशुद्धि को प्राप्त करना आवश्यक है। चार शीलों पर गम्भीरता से विचार करने पर सुविदित होता है कि योगी को प्रातिमोक्ष में निहित नियमों का पालन करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वह सांसारिक भोगों के कुप्रभाव से अपनी इन्द्रियों को सुरक्षित रखे। यदि योगी इन्द्रियसुख के जाल में फंस गया तो निश्चय ही वह प्रातिमोक्ष में निहित नियमों का उल्लंघन कर देगा और उसकी योग-साधना निष्फल हो जाएगी।

इन्द्रियों को नियन्त्रित रखकर प्रातिमोक्ष के नियमों का पालन करने वाले योगी के सम्मुख जीविकोपार्जन की समस्या आना स्वाभाविक है। कारण, कि योग-साधना के लिए उद्यत भिक्षु अन्ततः समाज के ऊपर ही निर्भर रहता है। अतः तापसों द्वारा आजीविका के लिये विभिन्न उपायों को अपनाने की प्रवृत्ति देखी जाती थी। आजीविका के लिए दोषपूर्ण आचरण करने से योग-साधना के निष्फल होने की सम्भावना रहती है। अतः योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आजीविका को दोषरहित बनाये। यदि उसमें कोई दोष उत्पन्न हो जाये तो उसको तत्काल दूर कर देना चाहिये। उसे आजीविका के लिए न तो वञ्चना, बातूनीपन आदि का सहारा लेना चाहिये और न ही व्यंग्य या आक्रोश से परिपूर्ण वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त योगी को अपने लिए निहित आवश्यक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चीवर, पिण्डपात आदि वस्तुओं का प्रयोग करते समय मन में उनके प्रति आसक्तिमूलक विचार नहीं करना चाहिए। यदि योगी के मन में चीवर आदि में आसक्ति उत्पन्न हो जाये तो उससे उसकी साधना को हानि होगी।

योगी को शील की विशुद्धि हेतु श्रद्धा, स्मृति, वीर्य एवं प्रज्ञा गुणों से सम्पन्न रहना चाहिए। कारण कि श्रद्धा, स्मृति, वीर्य एवं प्रज्ञा क्रमशः प्रातिमोक्षसंवर शील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धि शील एवं प्रत्ययसंनिश्रित शील के पालन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

शील के प्रसंग में धुतांग की चर्चा करना आवश्यक हो गया है। कारण, कि धुतांगों के धारण करने से योगी में अल्पेच्छता, सन्तुष्टि आदि ऐसे गुणों का विकास होता है, जो शील की विशुद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में योग-साधना के लिये धुतांगों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। यह बात दूसरी है कि योगी के शील की विशुद्धि के लिए यत्र-तत्र धुतांगों से मिलते जुलते आचार की देशना दी गयी थी। कालान्तर में विशुद्धिमग्ग तथा मिलिन्दपञ्ह जैसे ग्रन्थों में धुतांगों को दिये गए महत्व से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म की योग-साधना ब्राह्मण संस्कृति से थोड़ी सी प्रभावित हो गयी थी। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद धुतांग समर्थक महाकस्सप के संघ-प्रमुख बनने के बाद से धुतांगों को बौद्ध धर्म की योग-साधना में वहुत अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा।

इस प्रकार शील बौद्ध योग-साधना के तीन सोपानों में प्रथम अनिवार्य सोपान है। इस सोपान पर आरूढ़ होने पर ही योगी समाधि एवं प्रज्ञा को प्राप्त कर सकता है।

योग-साधना के लिये आधारभूत इस अधिशील शिक्षा का व्यावहारिक महत्व भी है। अन्य धर्मों में योग-साधना का मुख्य उद्देश्य आत्मा को सांसारिक बन्धनों से मुक्त करना माना गया है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-पुरुष आदि की मान्यता से उलझी हुई योग-साधना कोई निश्चित लौकिक फल को देने वाली नहीं होती है। उसका प्रधान कारण यह है कि वहां आत्मा के विषय में कोई निश्चित कथन नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत अन्य तीर्थिकों के योगियों में आचारशैथिल्य भी परिलक्षित होता है।

बौद्ध धर्म में वर्णित शील से योगी आचार में विशुद्ध होने के साथ-साथ अपने में ऐसे गुणों का विकास भी कर लेता है जो चित्त के विकारों को दूर करने में सहायक होते हैं। अतएव योग-साधना के लिए अधिशील शिक्षा परमावश्यक मानी गयी है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीसरा अध्याय

अधिचित्त शिक्षा एवं अधिप्रज्ञा शिक्षा

योग-साधना के लिये उद्योगरत योगी जब अधिशील शिक्षा के अनुसार शील में प्रतिष्ठित होकर धुतांगों के धारण करने से अपने में अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक आदि गुणों का विकास कर लेता है तब उसे चित्त एवं प्रज्ञा की भावना करना चाहिए।[1] जो श्रेष्ठ कुशल धर्मों की उत्पत्ति एवं वृद्धि करती है, उसे भावना कहते हैं।[2] अतः चित्त-भावना का तात्पर्य उस क्रिया से है जो चित्त में श्रेष्ठ कुशल धर्मों को उत्पन्न करती है तथा उत्पन्न कुशल धर्मों में वृद्धि करती है। इसी प्रकार प्रज्ञा-भावना के विषय में भी समझना चाहिये।

चित्त-भावना के लिए अधिचित्त शिक्षा तथा प्रज्ञा-भावना के लिए अधिप्रज्ञा शिक्षा का उपदेश दिया गया है। यहाँ अधिचित्त शिक्षा से समाधि तथा अधिप्रज्ञा शिक्षा से प्रज्ञा अभिप्रेत है। अतः इस अध्याय में समाधि तथा प्रज्ञा के स्वरुप तथा उनके विविध भेदों का विवेचन किया जायेगा।

समाधि

समाधि का अर्थ है–समाधान। जब किसी एक आलम्बन में समान एवं सम्यग् रूप से चित्त तथा चैतसिक धर्मों की प्रतिष्ठा होती है तो उसे समाधि कहते हैं।[3] दूसरे शब्दों में एकालम्बन रूपी एकाग्रता ही समाधि है। जिसका

1. (क) सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो
   चित्तं पञ्ञञ्च भावयं। (सं० नि०, खण्ड 1, पृ० 14)
   (ख) धुतंगपरिहरणसम्पादितेहि अप्पिच्छतादीहि गुणेहि परियोदाते इमस्मिं सीले··· समाधि भावेतब्बो। (विसु०, खण्ड 1 पृ० 187)
2. अधिकुसलं भावेती ति जनेति उप्पादेति वड्ढेति। अयं ताव इध भावनाय अत्थो। (अट्ठ०, पृ० 133; अभिध०, खण्ड 2 पृ० 563)
3. समाधानट्ठेन समाधि। एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं ठपनं ति वुत्तं होति। (विसु०, खण्ड 1 पृ० 188)
   (अभिध०, खण्ड 1 पृ० 106.)
   समाधि पमुखट्ठेन अभिञ्ञेय्यो। (विभंग, पृ० 25)
   ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते समाधिपमुखा होन्ति समाधिनिन्ना··· (मिलिन्द०, पृ० 29–30)
   अभिध०, खण्ड 1 पृ० 107.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ही आलम्बन होता है, उसे एकाग्र कहते हैं और उसका भाव एकाग्रता है। चूँकि सभी कुशल धर्म समाधि में प्रतिष्ठित होते हैं, अतः उनमें समाधि को प्रमुख कहा गया है। जिस प्रकार किसी मीनार की सभी सीढ़ियाँ सबसे ऊपर वाली मंजिल की ओर ही ले जाने वाली होती हैं, उसी ओर जाती हैं और वहीं पर सबका अन्त होता है। इसी प्रकार जितने भी कुशल धर्म हैं सभी समाधि की ओर जाते हैं। अतः सभी कुशल धर्मों में समाधि प्रमुख होती है। समाधि आलम्बन में चित्त की स्थिति है, अतः स्थिरता ही समाधि का लक्षण है। जिस प्रकार उदक के द्वारा स्नानीय चूर्ण पिण्ड रूप में किया जाता है उसी प्रकार योगी समाधि के द्वारा सभी कुशल धर्मों को आलम्बन में पिण्डरूप से अवस्थित कर लेता है।[1] उपशम समाधि का स्वभाव है। जिस प्रकार वायु के प्रवेग से रहित स्थान में दीपक की शिखा अपने स्थिर स्वभाव को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार समाधि में चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर स्थिति को प्राप्त करता है। सुख समाधि का आसन्न कारण है।

समाधि के लिये नीवरण-प्रहाण का महत्व

समाधि में विघ्न उत्पन्न करने वाले धर्मों को नीवरण कहते हैं। ध्यान आदि कुशल धर्मों का निवारण करने के कारण ही ये नीवरण कहलाते हैं।[2]

योगी कुशल चित्त की एकाग्रता की स्थिति तभी प्राप्त कर सकता है जब वह समाधि में विघ्न उत्पन्न करने वाले कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा नामक पाँच नीवरणों का उपशम कर लेता है।[3] विषयों के अनुराग को कामच्छन्द कहते हैं। व्यापाद हिंसा को कहते हैं। स्त्यान चित्त की अकर्मण्यता और मिद्ध आलस्य को कहते हैं। इसी प्रकार औद्धत्य का अर्थ चित्त का अव्यवस्थित होना और कौकृत्य का अर्थ चित्त में खेद–पश्चात्ताप होता है। विचिकित्सा संशय को कहते हैं।[4] वहाँ स्त्यान एवं मिद्ध को एक साथ रखकर एक नीवरण के रूप में इसलिये कहा गया है, क्योंकि दोनों ही चित्त को निरुत्साहित करते हैं तथा तीक्ष्ण वीर्य के प्रतिपक्षी हैं। इसी प्रकार औद्धत्य एवं

---

1. (विसु० (परम०) खण्ड 1 पृ० 188.)
2. (वही, पृ० 189.)
   चित्तं नीवरन्ति परियोनन्धन्ती ति निवरणा। (अट्ठ, पृ० 42)
3. 'सो अभिज्झं···व्यापाददोसं · थिनमिद्धं···उद्धच्चकुक्कुच्चं···विचिकिच्छं पहाय···चित्तं परिसोधेत्ति।
   (दी० नि०, खण्ड । पृ० 63)
4. सुमंगल० खण्ड 1, पृ० 235

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौकृत्य—ये दोनों अशान्ति को उत्पन्न करते हैं, अतः इन दोनों की भी एक नीवरण के रूप में गणना की गयी है।[1]

कामच्छन्द होने से समाधि में चित्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है, कारण विषयों में अनुरक्त व्यक्ति का चित्त एवं उसमें उठने वाले विभिन्न चैतसिक धर्मों का किसी एक आलम्बन में स्थिर होना सम्भव नहीं है। हिंसा भाव से चित्त बदलता रहता है, स्त्यान-मिद्ध से चित्त अकर्मण्य होता है, औद्धत्य-कौकृत्य से चित्त भ्रान्त रहता है एवं विचिकित्सा से चित्त ध्यान के मार्ग पर आरूढ़ नहीं होता है। कामच्छन्द के उपशम से चित्त एक आलम्बन में समाहित होता है, व्यापाद के उपशल से प्रीति उत्पन्न होती है, स्त्यान-मिद्ध के शान्त होने से वितर्क एवं औद्धत्य-कौकृत्य के शान्त होने से सुख उत्पन्न होता है। विचिकित्सा के शान्त होने से चित्त ध्यान का लाभ कराने वाले मार्ग पर आरूढ़ होता है। अतः समाधि की भावना के लिये उद्योगी योगी को इन पांच विघ्नकारक नीवरणों का नाश करना आवश्यक है।[2] जब योगी नीवरणों का विनाश कर लेता है, तभी उसे ध्यान का लाभ एवं ध्यान के वितर्क विचार, प्रीति, सुख या एकाग्रता–इन पाँच अंगों का प्रादुर्भाव सम्भव है।[3]

वितर्क चित्त को आलम्बन की ओर ले जाता है, किन्तु वितर्क की स्थिति में चित्त डांवाडोल होता रहता है। विचार सूक्ष्म होता है तथा उसकी वृत्ति शान्त होती है। इसमें चित्त आलम्बन में अधिक स्थिर हो जाता है।[4] जब प्रीति उत्पन्न होती है, तो शरीर में रोमांच होता है। प्रीति के कारण शरीर एवं चित्त में शान्ति होती है। काय एवं चित्त के शान्त होने से काय-सुख एवं चित्त-सुख

---

1. किच्चाहारत्रिपक्खानं एकत्ता एकमेत्थ हि।
   कतमुद्धच्चकुक्कुच्चं थीनमिद्धं च तादिना॥ (अभिध०, खण्ड 2 पृ० 745)
2. नीवरणानि हि झानंगपच्चनीकानि ··· तथाहि समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति व्यापादस्स, वितक्को थिनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया ति। (विसु०, खण्ड 1 पृ० 302)
3. तुलना कीजिये—
   वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः... (पात० योगदर्शन, पृ० 58–59)
4. तत्थ वितक्कनं वितक्को ··· स्वायं आरम्भणे चित्तस्स अभिरोपनलक्खणो ··· आरम्भणे चित्तस्स आनयनपच्चुपट्ठानो। विचरणं विचारो ·· स्वायं आरम्भणानुमज्जन-लक्खणो ··· ओलारिकट्ठेन ··· पठमा भिनिपातो वितक्को ··· सुखुभट्ठने ·· घण्डानुखो विय अनुप्पबन्धो वितक्को। (विसु०, खण्ड 1, पृ० 303–304)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न होता है और सुख के परिपाक से समाधि का परिपूरण होता है।[1] यही कारण है कि नीवरणों के शान्त होने से उत्पन्न समाधि को शमथ कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त शमथ से चित्त तृष्णाओं से विमुक्त होता है। इसी प्रकार समाधि से भी चित्त तृष्णाओं से विमुक्त होता है। अतः शमथ तथा समाधि—ये दोनों ही तृष्णा के विनाशरूप एक ही कार्य को करते हैं। इसलिये भी समाधि को शमथ कहा जाता है।[3] योग साधना की दृष्टि से समाधि के स्थान पर शमथ का ही प्रयोग अधिकतर देखा जाता है। इसलिये प्रस्तुत प्रबन्ध में भी समाधि-भावना विधि की शमथ भावना विधि के रूप में विवेचना की जायेगी।

प्रज्ञा

प्रज्ञा बुद्ध की शिक्षा-त्रय का अन्तिम सोपान है। प्रज्ञा की उपलब्धि के साथ ही बौद्ध योग-साधना पूर्ण हो जाती है। कारण, प्रज्ञा से जब योगी स्कन्धों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वरूप को अच्छी तरह से जान लेता है, तो उसके दुःख उत्पन्न करने वाले कारण पूर्णरूप से समाप्त हो जाते हैं।

प्रज्ञा का अर्थ

जो धर्मों को अनित्य आदि प्रकारों से जानता है उसे प्रज्ञा कहते हैं।[4] अज्ञान को नष्ट कर वास्तविक स्वरूप को दिखा देना ही प्रज्ञा का लक्षण है।[5] जब प्रज्ञा से योगी का अज्ञान-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है तो वह प्रज्ञा के प्रकाश से चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर स्कन्धों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म रूपों को स्पष्टतया देख लेता है। प्रज्ञा दीपक के समान है। जिस प्रकार कोई पुरुष दीपक लेकर किसी अंधेरी कोठरी में जाय तो उस दीपक से एक ओर तो उस कोठरी का अन्धकार हट जाता है और दूसरी ओर कोठरी में

---

1. सा पनेसा···पीति···परिपाकं गच्छन्ती···दुविधं पस्सद्धिं परिपूरेसि।·· पस्सद्धि परियांक गच्छन्ती ··दुविधम्पि सुखं परिपूरेति। सुखं···परिपाकं गच्छन्तं समाधि परिपूरेति। (वही, पृ० 308)
2. या तस्मिं समये चित्तस्स ठिति···समथो समाधिन्द्रियं · सम्मासमाधि···अयं तस्मिं समये समथो होति। (धम्मसं०, पृ० 26)
3. तथा तण्हासंकिलेसो समथेन विसुज्झति, सो समथो समाधिक्खन्धो ति। (नेत्ति०, पृ० 128)
4. (अट्ठ०, पृ० 101)
5. छेदनलक्खणा पञ्ञा। अपि च ओभासनलक्खणा पञ्ञा। (मिलिन्द०, पृ० 30)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यमान सभी चीजें स्पष्ट रूप से दिखलायी देने लगती हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा से एक ओर अज्ञान हटता है तो दूसरी ओर स्कन्धों के स्वभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी देने लगते हैं। अविद्या स्कन्धों का ज्ञान न होने देने के कारण अन्धकार की तरह होती है और प्रज्ञा उस अविद्यारूपी अन्धकार का विनाश कर आलम्बन के स्वभाव को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करती है।[1]

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि प्रज्ञा एक कुशल धर्म है अतः इसका निर्दोष कर्मों से सम्बन्ध है। यदि कोई पुरुष अपने चातुर्य से दूसरे की वंचना करता है तो उस व्यक्ति के चातुर्य को प्रज्ञा नहीं कहा जायेगा।

प्रज्ञा को विपश्यना भी कहा जाता है। प्रज्ञा का लक्षण करते हुए कुछ स्थलों पर कुशल चित्त से सम्प्रयुक्त विपश्यना-ज्ञान को प्रज्ञा कहा गया है।[2]

दूसरे शब्दों में धर्मों को विशेष रूप से देखना विपश्यना है। योगी विपश्यना से संस्कारों में विद्यमान उनके वास्तविक स्वभाव को देखता है। विविध प्रकार के संस्कृत धर्म अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव वाले होते हैं किन्तु उन धर्मों की उक्त वास्तविकता केवल विपश्यना से ही देखी जा सकती है।[3]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि संज्ञा, विज्ञान एवं विपश्यना--इन तीनों का ही कार्य 'देखना' है फिर विपश्यना द्वारा देखने में ऐसी क्या विशेषता आ जाती है कि वह दुःख निरोध का कारण बन जाती है? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि संज्ञा से आलम्बन को केवल सामान्य रूप से जाना जा सकता है।[4] उदाहरणस्वरूप किसी नीले पदार्थ को देखकर संज्ञा से केवल इतना ही जाना जा सकता है कि यह नीला है। उससे वस्तुलक्षण की गहराई को नहीं देखा जा सकता है। विज्ञान किसी पदार्थ के सामान्य रूप को तो जानता ही है, उसके लक्षण को भी जान लेता है किन्तु विज्ञान मार्ग को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अतः इन दोनों में पदार्थ को जानने की जो क्षमता होती है, उससे मार्ग की उत्पत्ति के अभाव में दुःख निरोध होना सम्भव नहीं है।[5] विपश्यना किसी आलम्बन-भूत पदार्थ को जानती है, उसके लक्षण की गहराई तक पहुँचती है

---

1. (अभिध०, खण्ड 1 पृ० 175)
2. कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनात्राणं पञ्ञा। (विसु०, खण्ड 2, पृ० 946)
3. या तस्मिं समये पञ्ञा पजानना···अयं तस्मिं समये विपस्सना होति। (धम्म सं०, पृ० 26–27)
4. संजाननलक्खणा, महाराज, सञ्ञा··· (मिलिन्द०, पृ० 49)
5. विजाननलक्खणं, महाराज, विञ्ञाणं··· वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और प्रयत्न करके मार्ग की उत्पत्ति करती है।[1] इसको समझने के लिए एक उदाहरण देना आवश्यक है। यदि कार्षापण की राशि को एक बच्चा, एक ग्रामीण पुरुष एवं एक सराफ देखे तो इन तीनों का देखना अलग-अलग होता है। अनजान बच्चा कार्षापणों के लम्बे चौकोर या गोल रूपों को ही देख पाता है। ग्रामीण कार्षापणों के बाहिरी आकार के साथ-साथ यह भी जान लेता है कि वे उपभोग के लिये होते हैं। किन्तु वह यह नहीं जान सकता है कि वे चोखे हैं या खोटे, लेकिन सराफ कार्षापणों के बाहिरी आकार एवं उनकी उपयोगिता को तो जानता ही है साथ ही वह विविध तरीकों से परखकर उनके वास्तविक स्वरूप को भी जान लेता है। संज्ञा का देखना अनजान बच्चे के देखने के समान है, विज्ञान का देखना ग्रामीण पुरुष के देखने के समान है और विपश्यना का देखना पारखी सराफ के देखने के समान है।[2]

विपश्यना से योगी के दृष्टि-क्लेश का प्रहाण होता है।[3] नाम-रूपों में सामान्यतः नित्य, सुख तथा आत्मरूप की दृष्टि होती है। विपश्यना से योगी यह जानता है कि संसार में जिस प्रकार अन्य पदार्थ संस्कृत होने के कारण अनित्य होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में नाम-रूप संस्कृत होने के कारण अनित्य हैं। इसी प्रकार योगी दुःख की भावना करता है। जो भी पदार्थ अनित्य होते हैं, वे स्वभावतः दुःख ही होते हैं। इसके अतिरिक्त योगी अपने शरीर को नाम-रूप के सम्मिश्रण से बना हुआ संस्कृत धर्मों के पिण्ड के रूप में देखता है। इससे शरीर के अन्दर आत्मा होने की दृष्टि समाप्त हो जाती है।[4] सारांश यह कि योगी विपश्यना से अपने नाम-रूप के अनित्य, दुःख एवं अनात्म रूपों को देखता है।

जिस प्रकार प्रज्ञा से मिथ्यादृष्टियों का प्रहाण होता है, उसी प्रकार विपश्यना से भी मिथ्या दृष्टि विनष्ट होती है। अतः इसी तथ्य के आधार पर विपश्यना को ही प्रज्ञा कहा जाता है।[5] प्रस्तुत प्रबन्ध में भी प्रज्ञा-भावना की विपश्यना-भावना के रूप में ही विवेचना की जायेगी।

---

1. पञ्ञा वुत्तनयेन आरम्भणं च जानाति, लक्खणपटिवेधं च पापेति, उस्सक्कित्वा मग्गपातुभावं च पापेति।
(विसु०, खण्ड 2, पृ० 947)
2. (वही, पृ० 948–949)
3. दिट्ठिसंकिलेसो विपस्सनाय विसुज्झति, सा विपस्सना पञ्ञाक्खन्धो ति।
(नेत्ति०, पृ०128)
4. अनिच्चलक्खणं, दुक्खलक्खणं अनत्तलक्खणं चेति तीणि लक्खणानि।
(अभिध०, खण्ड 2, पृ० 917)
5. (धम्मसं०, पृ० 26–27; सुमङ्गल, खण्ड 3 पृ० 320)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमथ एवं विपश्यना में भेद

शमथ और विपश्यना के उक्त संक्षिप्त स्वरूप से यह सुविदित होता है कि शमथ से, जो कि समाधि का ही पर्यायवाची है, अधिचित्त शिक्षा पूर्ण होती है जबकि विपश्यना से, जो प्रज्ञा का ही पर्यायवाची शब्द है, अधिप्रज्ञा शिक्षा सफल होती है।

पालि-त्रिपिटक में शमथ एवं विपश्यना के कहीं-कहीं एक साथ होने के उल्लेख मिलते हैं तो कुछ स्थलों पर विपश्यना के शमथपूर्वक होने का सन्दर्भ मिलता है और कहीं-कहीं विपश्यनापूर्वक शमथ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[1] उदाहरणस्वरूप संयुत्तनिकाय के षडायतनवग्ग में विद्यमान 'समथ-विपस्सना' सुत्त में स्पष्ट कहा गया है कि शमथ और विपश्यना असंस्कृत भूमि में जाने के मार्ग हैं।[2] इससे यह प्रकट होता है कि जहाँ शमथ है, वहाँ विपश्यना है और जहाँ विपश्यना है, वहाँ शमथ है। इस प्रकार जो शमथ की भावना करता है, वह विपश्यना की भावना करता है और जो विपश्यना की भावना करता है, वह शमथ की भावना करता है। शमथ और विपश्यना में समता का भाव भगवान् बुद्ध के उस उपदेश में भी विद्यमान है जिसमें वे उपसम्पन्न वत्स से कहते हैं कि 'तू दो के आगे धर्मों (शमथ और विपश्यना) की भावना कर। ये दोनों तेरे लिए अनेक धातुओं की तह तक पहुँचने में सहायक होंगे।'[3] कभी-कभी नैष्क्रम्य के कारण चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने के बाद धर्मों को अनित्य, दुःख एवं अनात्म रूप जानने से विपश्यना होती है। कभी-कभी पहले रूप में अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव को जानने से विपश्यना होती है और तत्पश्चात् चित्त की एकाग्रता होने से शमथ होता है।[4] अतः जो व्यक्ति शमथपूर्वक विपश्यना की भावना करता है उसे शमथयानिक कहा गया है और जो विपश्यना-पूर्वक दुःख निरोध करता है उसे विपश्यनायानिक कहा जाता है।[5]

यहाँ अभिधर्म की गहनता में न जाकर यही कहना समुचित है कि शमथ का अभिप्राय लौकिक समाधि से है। काम, रूप एवं अरूप भूमियों की कुशल

1. (पटि०, पृ० 338)
2. (सं० नि०, खण्ड 4 पृ० 312)
3. (म० नि०, खण्ड 2 पृ० 189)
4. इधावुसो भिक्खु समथपुब्बंगमं विपस्सनं भावेति···विपस्सनापुब्बंगमं समथं भावेति··· समथविपस्सनं युगनद्धं भावेति। (पटि०, पृ० 338, 340–350)
5. (पुग्ग०, पृ० 23, 108, 110)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्त एकाग्रता ही शमथ का मुख्य कार्य है। इस शमथ-भावना से आठ समापत्तियाँ और ऋद्धिबल तो प्राप्त हो जाते हैं किन्तु निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उसके लिये तो विपश्यना की भावना करनी ही होगी। शमथ-भावना के लिये चालीस कर्मस्थानों में से निश्चित कर्मस्थान को योग की साधना के लिये निमित्त बनाना होता है।[1]

विपश्यना का अभिप्राय लोकोत्तर समाधि से है। इसमें अपने नाम (वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) तथा रूप को योग-साधना का विषय बनाया जाता है। इस साधना से जो एकाग्रता प्राप्त होती है, वह आर्य मार्ग से संप्रयुक्त होती है। प्रज्ञा या विपश्यना की भावना से ही यह लोकोत्तर समाधि सम्भव है।[2] विपश्यना की भावना में शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि एवं ज्ञानदर्शनविशुद्धि—ये सात विशुद्धियाँ; अनित्यलक्षण, दुःख-लक्षण एवं अनात्म-लक्षण—ये तीन लक्षण; इन्हीं तीन से सम्बन्धित तीन अनुपश्यनायें; सम्मर्शनज्ञान, उदयव्ययज्ञान, भंगज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्विदाज्ञान, मोक्तुकाम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान, संस्कारोपेक्षाज्ञान एवं अनुलोमज्ञान—ये दस ज्ञान; शून्यता-विमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष तथा अप्रणिहितविमोक्ष—ये तीन विमोक्ष और इन्हीं तीन विमोक्षों से सम्बन्धित तीन विमोक्षसुख—ये सभी जानने योग्य वस्तुयें होती हैं।[3] चूंकि उक्त सभी का विपश्यना से सम्बन्ध है, अतः विपश्यना के प्रसंग में उनका विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

लौकिक पुरुष योग-साधना करते समय पहले शमथ की भावना करता है। तत्पश्चात् विपश्यना की भावना के लिये योग-साधना करता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि व्यक्ति शमथ की साधना के बिना ही विपश्यना द्वारा अर्हत् पद प्राप्त कर लेता है। उदाहरणस्वरूप पटाचारा से भगवान् का उपदेश सुनकर ही स्रोतापन्न हो गयी तथा घड़े के सूखनेवाले जल को देखकर अनित्यता का भान हो गया और वह अर्हत् हो गयी।[4] सारांश यह कि शमथ-भावना को करने वाले योगी के लिए कर्मस्थानों को अपनी साधना का निमित्त बनना पड़ता है जबकि विपश्यना की साधना करने वाला योगी केवल नाम-रूप को ही अपनी साधना का विषय बनाता है। शमथ-योगी को

---

1. (बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 41–44)
2. (वही, पृ० 41 तथा बुद्ध का प्रथम सन्देश, पृ० 50)
3. (अभिध०, खण्ड 2 पृ० 917–920)
4. (थेरीगाथाएँ, पृ० 44–47)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तविशुद्धि के बाद विपश्यना की साधना आवश्यक है किन्तु विपश्यना की साधना से प्रज्ञा-लाभ करने वाला योगी मार्ग पर आरूढ़ होकर अर्हत् पद प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि शमथपूर्वक विपश्यना की साधना से आस्रव क्षीण करने वाले को उभतोभागविमुक्त तथा केवल विपश्यना की साधना से आस्रव क्षीण करनेवाले को प्रज्ञाविमुक्त कहा गया है।[1] योगी को शमथ एवं विपश्यना दोनों ही प्रकार की साधनाओं में स्मृति को उपस्थित करना आवश्यक है।

समाधि के भेद

अधिचित्त शिक्षा में जिस समाधि की शिक्षा दी गयी है, उसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसके विविध भेदों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। इन भेदों के द्वारा समाधि की विभिन्न विशेषताएँ प्रकाशित होती हैं।

एकविध समाधि

जब समाधि के सामान्य लक्षण को ध्यान में रखकर उसके भेदों पर विचार किया जाता है तो समाधि एक प्रकार की ही प्रतीत होती है और वह है—कुशल चित्त की एकाग्रता। एक आलम्बन में सभी चित्त चैतसिकों का भली भाँति प्रतिष्ठित होना ही समाधि है। किसी तरह का विक्षेप न होना ही इसका लक्षण है। विक्षेप को मिटाना ही समाधि का कार्य है। विकम्पित न होने से यह जानने के योग्य होती है तथा विक्षिप्तता के अभाव से उत्पन्न सुख इसका आसन्न कारण है।[2]

द्विविध समाधि

समाधि को चार विकल्पों द्वारा दो-दो भागों में विभक्त किया जाता है। ये विकल्प हैं—उपचार समाधि तथा अर्पणा समाधि; लौकिक समाधि तथा लोकोत्तर समाधि; सप्रीतिक समाधि तथा निष्प्रीतिक समाधि; सुखसहगतसमाधि तथा उपेक्षासहगत समाधि।

---

1. इधेकच्चो पुग्गलो अट्ठविमोक्खे कायेन फुसित्वा विहरति; पञ्ञाय चस्स दिस्वा आसवा परिक्खीणा होन्ति। अयं वुच्चति पुग्गलो उभतोभागविमुत्तो। इधेकच्चो पुग्गलो न हेवखो अट्ठ विमोक्खे कायेन फुसित्वा विहरति; पञ्ञाय चस्स दिस्वा आसवा परिक्खीणा होन्ति। अयं वुच्चति पुग्गलो पञ्ञाविमुत्तो। (पुग्ग०, पृ० 23)
2. अविक्खेपलक्खणो समाधि, विक्खेपविद्धंसनरसो अविकम्पनपच्चुपट्ठानो। सुखिनो चित्तं समाधियती ति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं। (विसु०, खंड 1 पृ० 189)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपचार समाधि-अर्पणा समाधि

जिस समाधि में दस कर्मस्थानों के कारण चित्त की एकाग्रता प्राप्त की जाती है, उसे उपचार समाधि कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता अर्पणा समाधि से पहले होती है। उपचार समाधि में पाँच नीवरणों का प्रहाण हो जाने से यद्यपि चित्त में एकाग्रता आ जाती है किन्तु इसमें वितर्क, विचार प्रीति, सुख एवं एकाग्रता इन पाँच ध्यानांगों का प्रादुर्भाव नहीं होता है।[1] जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार अर्पणा समाधि के समीपवर्ती होने के कारण इसे उपचार समाधि कहा जाता है। अर्पणा समाधि में पाँच ध्यानांगों का प्रादुर्भाव होता है और वे सुदृढ़ होते हैं। जिस प्रकार छोटा बालक जब खड़े होकर चलने का प्रयत्न करता है, तो अभ्यास के अभाव में वह खड़ा होकर बार-बार गिर पड़ता है, उसी प्रकार उपचार समाधि में चित्त कभी आलम्बन को निमित्त बनाता है तो कभी भवांग में चला जाता है। इसके विपरीत में अंग सुदृढ़ हो जाते है और उसमें चित्त आलम्बन में स्थिर बना रहता है।[2]

लौकिक समाधि-लोकोत्तर समाधि

लौकिक एवं लोकोत्तर समाधियों का विवरण पहले दिया जा चुका है। काम, रूप तथा अरूप भूमियों से सम्बन्धित कुशल चित्त की एकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं, जबकि आर्य मार्ग से सम्प्रयुक्त एकाग्रता को लोकोत्तर समाधि कहा जाता है। लौकिक समाधि को समथ-यान एवं लोकोत्तर समाधि को विपश्यना-यान कहा जाता है।[3]

सप्रीतिक समाधि-निष्प्रीतिक समाधि, सुखसहगत समाधि तथा उपेक्षा-सहगत समाधि ध्यान की संख्या के आधार पर निर्भर होती है। कुछ लोग इस मत के मानने वाले है कि ध्यान चार प्रकार के होते हैं। इनके अनुसार पहले ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति सुख तथा एकाग्रता—ये सभी अंग होते है। दूसरे ध्यान में

---

1. छन्नं अनुस्सतिट्ठानं···इमेसं (दसन्नं कम्मट्ठानानं) वसेन लद्धचित्तेकग्गता या च अप्पना समाधीनं पुब्बभागे एकग्गता अयं उपचारसमाधि।
(वही, पृ० 191)
2. (क) वही, पृ० 270–271
(ख) बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 54–55
3. तीसु भूमिसु कुसलचित्तेकग्गता लोकियो समाधि। अरियमग्गसम्पयुत्ता एकग्गता लोकुत्तरो समाधि। (विसु०, खंड 1 पृ० 191)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। अतः दूसरे ध्यान में केवल प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—ये तीन अंग ही रहते है। तीसरे ध्यान में प्रीति समाप्त हो जाती है। फलतः इसमें केवल सुख एवं एकाग्रता ही शेष बचते हैं। चौथे ध्यान में सुख भी समाप्त हो जाता है। फलतः इसमें एकाग्रता के साथ सुख-दुःख से रहित उपेक्षा आ जाती है।

दूसरे मत के अनुसार दूसरे ध्यान में केवल वितर्क और तीसरे ध्यान में विचार समाप्त होता है। इस मत के अनुसार चतुर्थ ध्यान में प्रीति तथा पंचम ध्यान में सुख समाप्त होकर उपेक्षा का प्रादुर्भाव होता है।

उक्त दोनों मतों में से प्रथम मत के अनुसार—प्रथम दो ध्यान सप्रीतिक ध्यान हैं तथा शेष दोनों अर्थात् तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान निष्प्रीतिक होते हैं। इसी प्रकार पहले तीन ध्यानों में सुखसहगत समाधि होती है और चौथे ध्यान में उपेक्षा-सहगत समाधि होती है। द्वितीय मतवाद के अनुसार पहले तीन ध्यान सप्रीतिक होते हैं तथा चौथे-पाँचवे ध्यान निष्प्रीतिक होते हैं। इसी प्रकार पहले चार ध्यानों में सुखसहगत समाधि होती है जबकि अन्तिम अर्थात् पंचम में उपेक्षासहगत समाधि होती है।[1]

त्रिविध समाधि

त्रिविध समाधि के भी चार विकल्प उपलब्ध होते हैं—हीन-मध्यम-प्रणीत; सवितर्क-सविचार-अवितर्कसविचार–अवितर्क अविचार; प्रीतिसहगत-सुखसहगत-उपेक्षासहगत; परित्र-महद्गत-अप्रमाण।

हीन-मध्यम-प्रणीत

जो समाधि को प्राप्त करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है उसकी समाधि को हीन कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति समाधि को उदार पुण्यफल की इच्छा से प्राप्त करता है। जो समाधि को प्राप्त कर उसे आगे बढ़ाने का थोड़ा-बहुत अभ्यास करता है, उसकी समाधि को मध्यम कहा जाता है। मध्यम समाधि वाला व्यक्ति लौकिक अभिज्ञाओं को प्राप्त करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। भली प्रकार से अभ्यास की गयी समाधि को प्रणीत कहा जाता है। उसका लक्ष्य आर्य मार्ग पर पहुँचना होता है। हीन समाधि का लक्ष्य सांसारिक वैभव की उपलब्धि होता है, मध्यम समाधि का लक्ष्य चित्तशान्ति होता है किन्तु प्रणीत समाधि का लक्ष्य दूसरों के हित का सम्पादन होता है।[2]

1. (वही, पृ० 191–192)
2. (विसु० (परम०,) खंड 1, पृ० 192)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परित्र-महद्गत-अप्रमाण

ध्यान के पूर्व उपचार समाधि में प्राप्त चित्त की एकाग्रता को परित्र समाधि कहते हैं। रूपावचर तथा अरूपावचर भूमियों से सम्बद्ध कुशल चित्त की एकाग्रता को महद्गत समाधि कहते हैं जबकि आर्य मार्ग से सम्प्रयुक्त एकाग्रता अप्रमाण समाधि है।[1]

चतुर्विध समाधि

चतुर्विध समाधि के निम्नलिखित छः विकल्पों का उल्लेख मिलता है।[2]

(1) दुःखाप्रतिपदादन्धअभिज्ञावाली समाधि, दुःखाप्रतिपदातीक्ष्णअभिज्ञा-वाली समाधि, सुखाप्रतिपदादन्धअभिज्ञावाली समाधि तथा सुखाप्रति-पदातीक्ष्ण अभिज्ञावाली समाधि।

(2) परित्र-परित्रालम्बन, परित्र-अप्रमाणालम्बन, अप्रमाण-परित्रालम्बन तथा अप्रमाण-अप्रमाणालम्बन।

(3) चार ध्यानों के आधार पर।

(4) हानभागीय, स्थितभागीय, विशेषभागीय एवं निर्वेधभागीय।

(5) कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर एवं अपर्यापन्न।

(6) छन्दसमाधि, वीर्यसमाधि, चित्तसमाधि एवं मीमांसा समाधि।

प्रथम विकल्प

समाधि-भावना को प्रारम्भ करने के क्षण से उपचार समाधि को प्राप्त करने तक की समाधि-भावना को प्रतिपदा कहते हैं। उपचार समाधि से लेकर अर्पणा समाधि प्राप्त होने तक के ज्ञान को अभिज्ञा कहा जाता है। किसी-किसी योगी की प्रतिपदा दुःख से परिपूर्ण होती है क्योंकि उसके चित्त में नीवरण उत्पन्न हो जाते हैं। जब नीवरणों का सुचारु रूप से प्रहाण हो जाता है, तब प्रतिपदा सुख से युक्त अर्थात् सहज होती है। अर्पणा की कुशलता को पूर्ण न करने वाले की अभिज्ञा मन्द होती है, जबकि पूर्ण करने वाले की अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है। सारांश यह कि समाधि-भावना को प्रारम्भ करते समय जिसने नीवरणों का ठीक से विनाश कर दिया हो एवं समाधि के लिये दस विघ्नों का भी जिसने उपच्छेद कर दिया हो, उसे उपचार समाधि तक पहुँचना आसान होता है। ऐसा न करने वाले

---

1. उपचारभूमियं एकग्गता परित्तो समाधि···अरियमग्गसम्पयुत्ता एकग्गता अप्पमाणो समाधी ति (विसु० खण्ड 1, पृ० 193–194)
2. (वही, पृ० 194–199)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को उपचार समाधि कठिनाई से प्राप्त होती है। उपचार समाधि से अर्पणा समाधि तक अनुकूल का सेवन करने से तीक्ष्ण अभिज्ञा होती है अन्यथा मन्द।[1]

तृष्णा और अविद्या के आधार से भी समाधि के उक्त चार भेदों का विवेचन किया जा सकता है। जिसकी तृष्णा प्रबल होती है उसकी प्रतिपदा दुःख से परिपूर्ण होती है किन्तु तृष्णा का विनाश कर देने वाले की प्रतिपदा सुखद होती है। इसी प्रकार जो योगी अविद्या से ग्रस्त होता है उसकी अभिज्ञा मन्द होती है जबकि अविद्या को ठीक से नष्ट करने वाले की अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है।[2]

शमथ का अभ्यास करने वाले की प्रतिपदा सुखद और अभ्यास न करने वाले की दुःखद होती है। इसी प्रकार विपश्यना का अभ्यास करने वाले की अभिज्ञा तीक्ष्ण और न करने वाले की मन्द होती है।[3] क्लेश तथा इन्द्रिय के आधार पर भी उक्त चार भेदों की विवेचना की जा सकती है। तीव्र क्लेश से दुःखद प्रतिपदा होती है। इसी प्रकार श्रद्धा आदि इन्द्रियों के तीक्ष्ण होने से अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है जबकि मन्द इन्द्रियों के कारण अभिज्ञा मन्द होती है।[4]

द्वितीय विकल्प

जो समाधि अभ्यस्त न होने से आगे के ध्यान को उत्पन्न करने में कारण नहीं होती है, उसे परित्र कहते हैं। इसके विपरीत जिस समाधि की भली-भांति भावना की गयी हो तथा जो आगे के ध्यान को उत्पन्न करने में कारण होती है उसे अप्रमाण कहते हैं। इसी प्रकार जो बिना बढ़े हुए आलम्बन में होती है उसे परित्रालम्बन और जो बढ़े हुए आलम्बन में होती है उसे अप्रमाणालम्बन कहते है। उक्त लक्षणों के मिश्रण से परित्रपरित्रालम्बन आदि चार भेद बन जाते हैं।[5]

तृतीय विकल्प

इसमें चार ध्यानों के आधार पर समाधि के चार भेद किये गये हैं, जो स्पष्ट हैं।

---

1. (अं० नि०, खण्ड 2 पृ० 158–159)
2. (विसु०, खण्ड 2 पृ० 195)
3. यो च समथे अकताधिकारो तस्स दुक्खा पटिपदा, कताधिकारस्स सुखा, यो च पिवस्सनाय अकताधिकारो होति तस्स दन्धा अभि होति कताधिकारस्स खिप्पा। वही,
4. (वही, पृ० 196)
5. (वही, पृ० 196–197)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ विकल्प

विरोधी आचरण करने वाले की समाधि हानभागीय (परिहानि की ओर ले जाने वाली) होती है, स्मृति में स्थित होने से समाधि स्थितभागीय (एक जैसी बनी रहने वाली) होती है, ऊपर की विशेषताओं को प्राप्त करने वाली समाधि विशेषभागीय कहलाती है जबकि निर्वेद के विचार को मन में उत्पन्न करने वाली समाधि निर्वेदभागीय होती है।[1]

पंचम विकल्प

इनमें उपचार समाधि की एकाग्रता कामावचर समाधि कहलाती है। इसी प्रकार शेष भेद होते हैं।

षष्ठ विकल्प

छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा को प्रधान करके प्राप्त समाधि क्रमशः छन्द समाधि, वीर्य समाधि, चित्त समाधि और प्रज्ञा समाधि कहलाती है।[2]

पंचविध समाधि

पांच ध्यानों के आधार पर समाधि के पाँच भेद किये जाते हैं।

समाधि के उक्त भेदों का गम्भीरता से अध्ययन करने से यह सुविदित होता है कि अधिचित्त शिक्षा के अन्तर्गत जिस समाधि का उपदेश दिया गया है, उसका निर्दोष रूप क्या होना चाहिये। योगी को सबसे पहले नीवरणों का ठीक से प्रहाण कर समाधि में विघ्नकारक दस बातों का परिमार्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् उसे चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने के लिये अन्तिम ध्यान तक उत्साह के साथ उद्योग करना चाहिये। उसका अन्तिम लक्ष्य मार्ग पर आरूढ़ होकर श्रेष्ठ प्रज्ञा प्राप्त करना होना चाहिये। कारण, इसी श्रेष्ठ प्रज्ञा से वह दुःख का निरोध कर सकता है। समाधि के द्वारा लौकिक वैभव या अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर कृतकृत्य समझने वाले योगी को अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अगर समाधि प्रारम्भ करते समय नीवरणों का ठीक से प्रहाण न किया जाये अथवा किसी प्रकार की तृष्णा मन में रखी जाय या फिर चित्त को दूषित करने वाले विचारों को मन में आने दिया जाय तो निश्चित रूप से योगी को प्रथम ध्यान की स्थिति तक पहुँचने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अतः योगी को सदैव अपने चित्त में अनुत्पन्न अकुशल विचारों के अनुत्पाद के लिये, उत्पन्न अकुशल

1. (वही, पृ० 197–198)
2. (वही, पृ० 198)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचारों के विनाश के लिये, अनुत्पन्न कुशल विचारों के उत्पाद के लिये तथा उत्पन्न कुशल विचारों की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।[1] उक्त चारों बातों के लिये किये गये प्रयत्न से समाधि निर्दोष रहती है। इसीलिये इन प्रयत्नों को समाधि का परिष्कार कहते हैं।[2] इसके साथ ही योगी को सदैव अपनी स्मृति उपस्थित रखना चाहिये। स्मृति योगी को समाधि में स्थिर बनाती है। स्मृति के कारण प्राप्त स्थिरता के कारण ही योगी अपना चित्त निश्चित आलम्बन में एकाग्र कर पाता है। इसीलिये स्मृति को समाधि का निमित्त कहा गया है। सम्यक् प्रयत्न, सम्यग् स्मृति और सम्यक् समाधि के सम्बन्धों को तीन मित्रों के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के अनुसार एक बार तीन मित्र फूल तोड़ने गये। फूल जरा ऊँचाई पर थे अतः कोई भी मित्र उन्हें तोड़ने में समर्थ नहीं हुआ। तत्पश्चात् एक मित्र को दूसरे मित्र ने झुक कर अपनी पीठ पर खड़ा किया और तीसरे मित्र ने खड़े होने वाले मित्र को स्थिर करने के लिये सहारा दिया। इस प्रकार एक मित्र ने दूसरे मित्र की पीठ पर चढ़कर तीसरे का सहारा लेकर इच्छानुसार फूल तोड़े। यहाँ पर फूल तोड़ने वाले व्यक्ति के समान समाधि है, पीठ पर खड़ा करने वाले की तरह प्रयत्न है और सहारा देने वाले व्यक्ति के समान स्मृति है।[3]

समाधि के सम्बन्ध में सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश उसके विभिन्न भेदों में किया गया है। अतः समाधि के विभिन्न भेद मिलकर समाधि के स्वरूप को ही प्रकट करते हैं और इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अधिचित्त शिक्षा के प्रसंग में उक्त भेदों की चर्चा की गयी है।

प्रज्ञा के भेद

अधिप्रज्ञा शिक्षा में जिस विपश्यना नामक प्रज्ञा की शिक्षा अभिप्रेत है उसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से यहां उसके विभिन्न भेदों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

एकविध प्रज्ञा

प्रज्ञा धर्मों के स्वभाव की तह तक पहुँचने रूप लक्षण से एक प्रकार की होती है। जिस प्रकार प्रदीप के प्रकाश से सभी दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा पूर्वोक्त लक्षण से मोहान्धकार का विनाश कर धर्मों को तह

1. (दी० नि०, खण्ड 3, पृ० 173)
2. चत्तारो सम्मप्पधाना समाधिपरिक्खारा (म० नि०, खण्ड 1 पृ० 371)
3. (पपंच०, खण्ड 2, पृ० 336)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक जानती है। प्रज्ञा का कार्य मोहान्धकार का विनाश कर नामरूप का ज्ञान प्राप्त कराना है। प्रज्ञा के आलोक से चित्त के भीतर विद्यमान धर्मों की वास्तविकता को न जानने वाला अन्धकार नष्ट हो जाता है। 'समाहित सही रूप से जानता है, देखता है'—इस वाक्य से समाधि प्रज्ञा का आसन्न कारण सिद्ध होता है। इसीलिये प्रज्ञा की भावना विकसित करने के इच्छुक भिक्षुओं को समाधि के विकसित करने का उपदेश दिया गया है।[1]

द्विविध प्रज्ञा

प्रज्ञा के दो प्रकारों में अनेक विकल्पों का उल्लेख है किन्तु उनमें से पाँच विकल्प विशेष रूप से विवेचनीय हैं—लौकिक-लोकोत्तर, सास्रव-अनास्रव, नाम का विनिश्चय करनेवाली-रूप का विनिश्चय करनेवाली, सौमनस्यसहगत-उपेक्षा-सहगत, दर्शनभूमि-भावनाभूमि।

लौकिक लोकोत्तर

लौकिक मार्ग से युक्त प्रज्ञा को लौकिक प्रज्ञा और लोकोत्तर मार्ग से युक्त प्रज्ञा को लोकोत्तर प्रज्ञा कहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि काम, रूप एवं अरूप भूमियों में धर्मों को विशेष रूप जानना लौकिक प्रज्ञा है किन्तु चार फलों में उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा लोकोत्तार प्रज्ञा है।[2]

सास्रव-अनास्रव

जो प्रज्ञा आस्रव-युक्त होती है वह सास्रव है और आस्रव से रहित प्रज्ञा को अनास्रव प्रज्ञा कहते है। आस्रव चित्तमल को कहते हैं। जिस प्रकार व्रण से पूय श्रवित होता है उसी प्रकार चक्षु-श्रोत्र आदि से ये चित्तमल श्रवित होते हैं। ये चित्तमल मदिरा की तरह मादकता उत्पन्न करते हैं, इसलिए भी इन्हें आस्रव कहा जाता है।[3]

---

1. धम्मसभावपटिवेधलक्खणा पञ्ञा, धम्मानं सभावपटिच्छादकमोहन्धकार विद्धंसनरसा, असम्मोहपच्चुपट्ठाना··· (विसु०, खण्ड 2, पृ० 950)
2. लोकियमग्गसम्पयुत्ता लोकिया, लोकुत्तरमग्गसम्पयुत्ता लोकत्तरा···कामावचरधम्मे आरब्भ···रूपावचरारूपावचरे आरब्ध···सा लोकिय विपस्सना··· (वही, पृ० 951 तथा 954)
3. आसवन्ती ति आसवा। चक्खुतो पि···मनतो पि सन्दन्ति···लोकस्मिं हि चिरपारि-वासिका मदिरादयो आसवा विया ति··· (अट्ठ०, पृ० 41)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रव चार प्रकार के होते हैं--कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव तथा अविद्या आस्रव।[1] पंचेन्द्रियजनित सुख के प्रति आसक्ति को कामास्रव कहते हैं। रूपलोक और अरूपलोक में उत्पन्न होने की इच्छा को भवास्रव कहते हैं दृष्टियों में अनुराग को दृष्टि-आस्रव, चार आर्य सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद के अज्ञान को अविद्या–आस्रव कहते हैं।[2] जब प्रज्ञा इन आस्रवों से युक्त होती है तो उसे सास्रव कहते हैं तथा आस्रवरहित प्रज्ञा अनास्रव कहलाती है।

नाम-रूप का विनिश्चय करने वाली प्रज्ञा

मनुष्य का शरीर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का सम्मिश्रित रूप है। इनमें से रूप के अतिरिक्त शेष चार स्कन्धों को नाम कहा जाता है। इन रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को विभिन्न दृष्टियों से देखा जाता है। कुछ लोग पाँच स्कन्धों में से विज्ञान स्कन्ध को कुछ रूप स्कन्ध को तथा कुछ अन्य स्कन्ध को आत्मा के रूप में जानते हैं। स्कन्धों में आत्मा के उपादान को सत्कायदृष्टि कहते हैं।

प्रज्ञा से योगी नाम और रूप का प्रत्यवेक्षण करता है। जब प्रज्ञा से रूप का विनिश्चय किया जाता है तो उसे रूप-विनिश्चय करने वाली प्रज्ञा कहा जाता है। इसी प्रकार जब प्रज्ञा शरीर के भीतर विद्यमान वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का परीक्षण कर उनके विषय में विनिश्चय करती है तो उस प्रज्ञा को नाम विनिश्चय करनेवाली प्रज्ञा कहा जाता है।[3]

सौमनस्यसहगत–उपेक्षासहगत

प्रज्ञा के ये भेद वेदनागत हैं। चार ध्यानों में तीसरे ध्यान तक सुख रहता है किन्तु अन्तिम ध्यान में सुख भी समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर उपेक्षा का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः तीन ध्यान तक योगी की प्रज्ञा को सौमनस्यसहगत प्रज्ञा कहते हैं जबकि अन्तिम ध्यान के योगी की प्रज्ञा उपेक्षा-

---

1. चत्तारो आसवा—कामासवो, भवासवो दिट्ठासवो अविज्जासवो।
(अभिध०, खण्ड 2 पृ० 730)
2. कामेसु कामच्छन्दो · कामासवो, यो भवेसु भवछन्दो···भवासवो · सब्बापि मिच्छदिट्ठि दिट्ठासवो··· दुक्खे अञ्ञाणं····· पटिच्चसमुप्पन्नेसु धम्मेसु अञ्ञाणं······ अविज्जासवो।
(धम्मसं०, पृ० 247)
3. (विसु०, खण्ड 2, पृ० 952)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहगत कहलाती है। पाँच ध्यानों में प्रथम चार ध्यान तक सौमनस्यसहगत तथा अन्तिम में उपेक्षासहगत प्रज्ञा होती है।[1]

दर्शनभूमि-भावनाभूमि

जब योगी प्रथम मार्ग (स्रोतापत्ति) में स्थित होता है तो उसकी प्रज्ञा को दर्शनभूमि कहते हैं। शेष तीन मार्गों में स्थित योगी की प्रज्ञा भावना भूमि कहलाती है।[2]

त्रिविध प्रज्ञा

प्रज्ञा के तीन प्रकारों में निम्नलिखित चार विकल्प विवेचनीय हैं—

चिन्ता-श्रुत-भावना; परित्र-महद्गत-अप्रमाण; आय-अपाय-उपायकौशल्य; अध्यात्म-बाह्य-अध्यात्मबाह्य।

चिन्ता-श्रुत-भावना

लाभ के लिये युक्तिपूर्वक किये गये कार्यों में, शिल्पों में अथवा विद्याओं में बिना दूसरे से सुने अपने ढंग से विचार करते हुए रूप, वेदना आदि अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वरूप हैं—इस प्रकार की जो विपश्यना है उसे चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं। किन्तु दूसरे से सुनकर प्राप्त की गयी प्रज्ञा श्रुतमयी प्रज्ञा कहलाती है। दूसरे से सुनकर अथवा न सुनकर अर्पणा समाधि को प्राप्त व्यक्ति की प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा कहलाती है।[3]

परित्र-महद्गत-अप्रमाण

कामावचर भूमि के धर्मों को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा परित्र, रूपावचर एवं अप्पावचर भूमियों के धर्मों को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा महद्गत तथा निर्वाण को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा अप्रमाणप्रज्ञा कहलाती है। इन तीनों में से प्रथम दो लौकिक प्रज्ञा हैं जबकि अन्तिम प्रज्ञा लोकोत्तर है।[4]

---

1. (दी० नि०, खण्ड 1 पृ० 65–67; अभिध०, खण्ड 1, पृ० 62)
2. (विसु०, खण्ड 2, पृ० 952)
3 योगविहितेसु वा कम्मायतनेसु···सच्चानुलोमिकं वा रुपं अनिच्चं ति···परतो अस्सुत्वा पटिलभति अयं वुच्चति चिन्तामया पञ्ञा · परतो सुत्वा पटिलभति अयं वुच्चति सुतमया पञ्ञा···सब्बापि समापन्नस्स पञ्ञा भावनामया पञ्ञा। (विभंग, पृ० 385)
4. (विसु० खण्ड 2, पृ० 954)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आय-अपाय-उपायकौशल्य

आय का तात्पर्य है—सम्प्राप्ति, और उसमें कुशलता को आय कौशल्य कहते हैं। आय कौशल्य से उत्पन्न अकुशल धर्म नष्ट होते हैं, अनुत्पन्न अकुशल धर्म उत्पन्न नहीं होते हैं, अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न कुशल धर्म वृद्धि को प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में अकुशल धर्मों के अनुत्पत्ति एवं प्रहाण तथा कुशल धर्मों की उत्पत्ति एवं स्थिति से सम्बन्धित प्रज्ञा में निपुणता को आय कौशल्य कहते हैं। आय से रहित को अपाय कहते हैं। अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पन्न न होना आदि अपाय है और उसमें कुशलता या निपुणता को अपाय कौशल्य कहते हैं। इस प्रकार कुशल धर्मों के अनुत्पाद एवं विनाश एवं अकुशल धर्मों की उत्पत्ति एवं स्थिति से सम्बन्धित प्रज्ञा को अपाय कौशल्य कहते हैं। अब यहां एक प्रश्न उठता है कि चूंकि प्रज्ञा एक कुशल धर्म है, अत. आयकौशल्य को तो प्रज्ञा कहा जा सकता है किन्तु अपायकौशल्य को कैसे प्रज्ञा कहा जायेगा ? इसका यही उत्तर है कि अपायकौशल्य से जब व्यक्ति अपनी वास्तविक स्थिति समझ लेता है तो वह उससे हटने का प्रयास करता है। अतः अपने अन्दर विद्यमान अकुशल धर्मों को जानना भी एक प्रकार की प्रज्ञा ही है। उपाय वाली निपुणता को उपायकौशल्य कहते हैं। प्राणियों के हित एवं सुखकारक धर्मों को करते समय यदि कोई भय आ जाये तो उसे उसी क्षण दूर करने के लिये किया गया उपाय उपायकौशल्य है।[1]

आध्यात्म-बाह्य-आध्यात्मबाह्य

अपने स्कन्धों को लेकर प्रारम्भ की गयी प्रज्ञा आध्यात्म-अभिनिवेश वाली प्रज्ञा कहलाती है। दूसरों के स्कन्धों अथवा बाह्य वृक्ष, पर्वत आदि को लेकर प्रारम्भ की गयी प्रज्ञा बाह्य-अभिनिवेश वाली प्रज्ञा है जब अपने तथा दूसरों के स्कन्धों को लेकर तथा बाह्य वृक्ष पर्वत आदि रूपों को लेकर कोई प्रज्ञा होती है तो उसे आध्यात्मबाह्य अभिनिवेशवाली प्रज्ञा कहा जाता है।

चतुर्विध प्रज्ञा

चार प्रकार की प्रज्ञा के सम्बन्ध में दो विकल्पों का उल्लेख मिलता है। पहले विकल्प के अनुसार चार आर्य सत्यों के ज्ञान के कारण प्रज्ञा चार प्रकार की होती है। जैसे दुःख सत्य के प्रति होने वाले ज्ञान को दुःख-प्रज्ञा कहते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्य सत्यों के विषय में भी जानना चाहिये।

---

1. (विभंग, पृ० 386 तथा विसु० (परम०), खण्ड 2, पृ० 955)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार आर्य सत्यों के सम्बन्ध में सत्यज्ञान, कृत्यज्ञान और कृतज्ञान होना ही प्रज्ञा है। संसार दुःखमय है—ऐसा ज्ञान दुःखसत्य का सत्यज्ञान है। दुःखसत्य का परिच्छेद कर जानने के लिये कुछ करना होगा—इस प्रकार का ज्ञान दुःख-सत्य के प्रति कृत्यज्ञान है। मार्ग और फल ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद दुःख का परिच्छेद कर जानने के लिये जो करना था, वह कर लिया गया है—इस प्रकार जानने वाले ज्ञान को दुःखसत्य का कृतज्ञान कहते हैं।

इसी प्रकार तृष्णा दुःख के उत्पाद का कारण है—इस प्रकार के ज्ञान को दुःखसमुदय का सत्यज्ञान कहते हैं। उस दुःख के कारण का प्रहाण करना चाहिये—इस प्रकार जानने वाले ज्ञान को दुःखसमुदय का कृत्यज्ञान कहते हैं। तृष्णा का सम्पूर्ण रूप से प्रहाण किया जा चुका है—ऐसा ज्ञान दुःखसमुदय का कृतज्ञान है।

सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त निरोध निर्वाण है—ऐसा ज्ञान दुःख-निरोध का सत्यज्ञान है। निर्वाण का साक्षात्कार करना चाहिये—ऐसा ज्ञान दुःख-निरोध का कृत्यज्ञान है और निर्वाण के साक्षात्कार के लिये जो करना था, वह किया जा चुका है—ऐसा ज्ञान दुःखनिरोध का कृतज्ञान है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग ही दुःख निरोध का मार्ग है—इस प्रकार जानना मार्ग-सत्य का सत्यज्ञान है, उस अष्टांगिक मार्ग की भावना करना चाहिये—ऐसा ज्ञान मार्ग सत्य का कृत्यज्ञान है और उस अष्टांगिक मार्ग की भावना कर ली गयी है--ऐसा ज्ञान मार्ग सत्य का कृतज्ञान है।

इस प्रकार चार आर्य सत्यों को सत्यज्ञान, कृत्यज्ञान और कृतज्ञान के रूप से जानने के कारण प्रज्ञा चार प्रकार की होती है।[1]

दूसरे विकल्प के अनुसार चार प्रतिसम्मिदाओं के आधार पर प्रज्ञा को चार प्रकार का कहा गया है। प्रभेदगत ज्ञान-विशेष को पटिसम्मिदा कहते हैं। इसके चार भेद हैं--अर्थप्रतिसम्मिदा, धर्मप्रतिसम्मिदा, निरूक्तिप्रतिसम्मिदा तथा प्रतिभान प्रतिसम्मिदा।

अर्थ में प्रभेदगत ज्ञान को अर्थप्रतिसम्मिदा कहते हैं। अर्थ हेतु फल को कहते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है--प्रत्ययसम्भूत, निर्वाण, भाषितार्थ, विपाक और क्रिया। इन अर्थों में प्रत्यवेक्षण करने वाला प्रभेदगत ज्ञान अर्थप्रतिसम्मिदा कहलाता है।

धर्म प्रत्यय को कहते हैं। प्रत्यय से हेतु अभिप्रेत है। धर्म में प्रभेदगत ज्ञान को धर्मप्रतिसम्मिदा कहते हैं। धर्म भी पांच प्रकार का होता है—

1. (महावग्ग पृ० 13–14 तथा पटि०, पृ० 132)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फलोत्पादक हेतु, आर्यमार्ग, भाषित, कुशल तथा अकुशल—इन धर्मों का प्रत्यवेक्षण करने वाला प्रभेदगत ज्ञान धर्मप्रतिसम्मिदा है।

अर्थप्रतिसम्मिदा एवं धर्मप्रतिसम्मिदा के उक्त अर्थ के कारण ही दुःख में ज्ञान को अर्थप्रतिसम्मिदा तथा दुःखसमुदय को धर्मप्रतिसम्मिदा कहा गया है।

धर्म की निरूक्ति के कथन में विद्यमान ज्ञान को निरूक्ति प्रतिसम्मिदा कहते हैं। जो कहा जाये उसे उक्ति कहते हैं। निर्धारण करके जो कहा जाता है, उसे निरूक्ति कहा जाता है। निरूक्ति से शब्दों का निगूहित अवभास प्रकट हो जाता है। अर्थ और धर्म से अविपरीत निरूक्ति को स्वभावनिरूक्ति कहते हैं। इसी स्वभाव निरूक्ति के कथन में प्रभेदगत ज्ञान को निरूक्ति प्रतिसम्मिदा कहते हैं।

ज्ञानों के ज्ञान को प्रतिमानपटिसम्मिदा कहते हैं। सब विषयों के ज्ञान को आलम्बन करके प्रत्यवेक्षण करनेवाले के ज्ञान का आलम्बन ज्ञान होता है। अतः ज्ञानों में विषय एवं कृत्य आदि के अनुसार विस्तृत ज्ञान को प्रतिमानपटिसम्मिदा कहते हैं। इस प्रकार चार प्रतिसम्मिदाओं के आधार पर प्रज्ञा चार प्रकार की होती है।[1]

प्रज्ञा के उक्त विविध भेदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रज्ञा मूलतः दो प्रकार की होती है–लौकिक एवं लोकोत्तर। लौकिक प्रज्ञा कामभूमि, रूपभूमि एवं अरूपभूमि से सम्बन्धित होती है किन्तु लोकोत्तर प्रज्ञा योगी को दुःखनिरोध के मार्ग में पहुँचाती है। फलतः लौकिक प्रज्ञा परित्र या महद्गत तो होती है किन्तु उसका प्रमाण होता है जबकि लोकोत्तर प्रज्ञा प्रमाण से रहित अर्थात् अप्रमाण होती है। प्रज्ञा का आलम्बन नाम-रूप ही होते हैं। जब नामरूपों की सही स्थिति का आभास हो जाता है तो योगी सभी संयोजनों का विनाश कर दुःखनिरोध की स्थिति में पहुँच जाता है।

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यह प्रज्ञा विपश्यना के रूप में आजकल बहुत लोकप्रिय है। सामान्य गृहस्थ मनुष्य भी विपश्यना विधि से योग का अभ्यास कर अनेक प्रकार के दुःखों पर विजय प्राप्त कर रहे हैं। अतः यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या बिना शमथ के विपश्यना की साधना की जा सकती है? इसके उत्तर में इतना कहना उचित होगा कि चिन्तामयी एवं श्रुतमयी भावना से यह स्पष्ट है कि विविध प्रकार के कार्यों, शिल्पों या विद्याओं में स्थित व्यक्ति दूसरे से सुनकर अथवा दूसरे से बिना सुने ही नामरूपों

1. (पटि०, पृ० 133–134 तथा विसु०, खण्ड 2, पृ० 956–960)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अनित्यादि स्वभावों का अनुभव कर सकता है। अतः विपश्यना शिविरों में विपश्यना की भावना से निश्चित रूप से लाभ होता है। किन्तु इस प्रकार के शिविरों में विपश्यना की साधना लौकिक विपश्यना ही है और इसका सीमित फल ही होता है। विपश्यना का पूर्ण लाभ तो तभी उठाया जा सकता है जब साधना के लिये निर्धारित सभी विधियों का पालन करते हुए योगी मार्गसत्य को प्राप्त कर लेता है।

अधिचित्त शिक्षा एवं अधिप्रज्ञा शिक्षा के उक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिचित्त शिक्षा से समाधि अभिप्रेत है और योग-साधना में उसके लिये शमथ शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अधिप्रज्ञा शिक्षा से प्रज्ञा अभिप्रेत है और योग-साधना में उसको विपश्यना शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। शमथ एवं विपश्यना की भावना करने की क्या विधि है और उससे योगी को क्या उपलब्धियाँ होती हैं—इसका अगले अध्यायों में विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौथा अध्याय

शमथ-भावना-विधि

योगी शील में प्रतिष्ठित होकर चित्त की एकाग्रता के लिये जिस योग-साधना को करता है, उसे स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में शमथ-भावना के रूप में जाना जाता है। शमथ का अर्थ है—पांच नीवरणों का शमन या उपशम। अतः शमथ-भावना का उद्देश्य है चित्त की एकाग्रता में विघ्न उपस्थित करने वाले पांच नीवरणों को शान्त करना। इस भावना से जब चित्त के नीवरण शान्त हो जाते हैं और वह एकाग्र हो जाता है तब योगी प्रथम ध्यान के अंगों का उत्पाद करता है। तत्पश्चात् वह प्रथम ध्यान से आगे बढ़ता हुआ क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानों को प्राप्त करता है। चतुर्थ ध्यान के समय योगी का चित्त केवल उपेक्षा और एकाग्रता से सम्पन्न रहता है। चतुर्थ ध्यान में जब वह पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाता है तो उसके अन्दर कुछ मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ये मानसिक शक्तियां योगी की आध्यात्मिक उपलब्धियां है।

चुंकि उक्त चारों ध्यानों का आलम्बन रूप होता है, अतः उन्हें रूपध्यान कहा जाता है। योगी जब रूप में दोषों को देखकर अरूप आकाश आदि का ध्यान करता है तो उस ध्यान को अरूप-ध्यान कहते हैं। इस प्रकार चार रूप ध्यान और चार अरूप ध्यान रूप आठ समापत्तियों के साथ अभिज्ञा शमथ भावना की उपलब्धियां है।

इस अध्याय में शमथ-भावना-विधि का विवरण दिया जा रहा है तथा अगले अर्थात् पांचवें अध्याय में शमथ-भावना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली आठ समापत्तियों तथा विविध प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियों का विवेचन किया गया है।

कर्मस्थान

शमथ-भावना को करने वाला योगी विभिन्न कर्मस्थानों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। कर्मस्थान के अनेक अर्थ होते हैं।[1] किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका अभिप्राय योगी

---

1. (पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 193)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के योग से सम्बन्धित कर्म से है। इसीलिये योग से सम्बन्धित कर्म की निष्पत्ति के कारण को कर्मस्थान कहा जाता है।[1]

कर्मस्थानों की संख्या 40 है। इनमें दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य, आहार में प्रतिकूल संज्ञा तथा चतुर्धातु व्यवस्थान का समावेश होता है।[2]

दस कसिण--कसिण (संस्कृत-कृत्स्न) सकल को कहते हैं। चूंकि योगी इसमें सम्पूर्ण आलम्बन को अपने ध्यान का विषय बनाता है अतः इन्हें 'कसिण कहा जाता है।[3]

कसिण दस हैं—पृथ्वीकसिण, आपोकसिण, तेजोकसिण, वायुकसिण, नीलकसिण, पीतकसिण, लोहितकसिण, अवदातकसिण, आलोककसिण तथा परिच्छिन्नाकाश कसिण।

पृथ्वीकसिण की भावना करने के इच्छुक योगी को एक बालिश्त चार अंगुल के फैलाव वाले मिट्टी के गोले को अपने ध्यान का आलम्बन बनाना चाहिये। मिट्टी को अरुण रंग का होना चाहिये।[4] आपोकसिण में नील, पीत, लोहित या अवदात वर्ण के जल को ग्रहण न कर केवल शुद्ध जल को कर्मस्थान के रूप में प्रयुक्त करने का विधान है।[5] तेजोकसिण में अधिकारी योगी अकृत दावाग्नि को निमित्त बना सकता है किन्तु जो अधिकारी न हो उसे सूखी लकड़ी से आग जलाकर चमड़े, कपड़े या चटाई में एक बालिश्त चार अंगुल का छेद कर

---

1. कम्मट्ठानानी ति आरम्भणभावेन योगकम्मस्स पवत्तिट्ठानानि।
(विसु० (परम०), खण्ड 1, पृ० 236)
(द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म—दर्शन पृ० 44)
2. ...सब्बथा पि समथनिद्देसे चत्तालीस कम्मट्ठानानि भवन्ति।
(अभिध० खण्ड 2, पृ० 885)
3. सकलट्ठेन कसिणानीति... (पपंच०, खण्ड 3, पृ० 241)
4. ...तस्मा नीलादिवण्णं मत्तिकं अगहेत्वा गंगावहे मत्तिकासदिसाय अरूपवण्णाय कसिणं कातब्बं... अरूणवण्णय मत्तिकाय विदत्थिचतुरंगुलवित्थारं वट्टं कातब्बं।
(विसु०, खण्ड 1, पृ० 263, 264)
5. ...नील पीतलोहितोदातवण्णानं अञ्ञतरं आपं अगहेत्वा यं पन भूमि असम्पत्तमेव आकासे सुद्धवत्थेन गहितं उदकं...
(वही, पृ० 359)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसमें से अग्नि को देखते हुए ध्यान करना चाहिये।[1] वायु-कसिण में दृष्टि अथवा स्पर्श द्वारा उसको निमित्त बनाया जाता है। वृक्षादि के अग्रभाग को वायु द्वारा सञ्चालित देखकर दृष्टि से तथा वायु के स्पर्श का अनुभव कर स्पर्श से वायु में ध्यान करना चाहिये।[2] नील, पीतादि कसिणों में तत्तत् रंग के पुष्प, वस्त्र आदि में चित्त को स्थिर किया जाता है।[3]

दस अशुभ--अशुभ कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त है। अतः अशुभ का तात्पर्य शव से है। चूंकि मृत्यु के अनन्तर शव के आकार में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, अतः उन विकारों से उत्पन्न शव की विभिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से ही उद्धमातक आदि दश अशुभ कर्मस्थानों को माना गया है।[4] येदश अशुभ इस प्रकार हैं—उद्धुमातक (माथी की तरह फूला हुआ शव), विनीलक (नीला पड़ गया शव), विपुब्बक (पीप आदि के बहाव से युक्त शव), विच्छिद्दक (दो भागों में कटा शव), विक्खायितक (कुत्ते-शृगालों आदि से स्थान-स्थान पर खाया हुआ शव), विक्खित्तक (इधर-उधर बिखरे हुए अंगों वाला शव), हतविक्खित्तक (शस्त्र को काटकर इधर-उधर छितरा दिये गये अंगों वाला शव), लोहितक (रक्त से सना शव), पुलुवक (कीड़ों से परिपूर्ण शव) तथा अट्ठिक (अस्थि मात्र में अवशिष्ट शव)।

अशुभ कर्मस्थानों में से किसी एक को ग्रहण करते समय योगी को कुछ विशेष सावधानी बरतनी होती है। अशुभ कर्मस्थान प्रायः श्मशान पर ही मिलते हैं। उन्हें निमित्त बनाने के लिये जाने के पूर्व संघ स्थविर अथवा अन्य स्थविर भिक्षुओं को बता देना चाहिये। कारण, श्मशान में वन्य पशु, भूत-प्रेत तथा चोरों आदि के उपद्रवों की आशंका रहती है। कहकर जाने से उस योगी की सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था करना सम्भव हो जाता है।[5]

दश अनुस्मृतियां—पुनः पुनः उत्पन्न होने के कारण अथवा योग्य स्थान में ही प्रवृत्त होने के कारण अनुरूप स्मृति को ही अनुस्मृति कहा जाता है। दश अनुस्मृतियाँ इस प्रकार हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति,

1. कटसारके वा चम्मे वा पटे वा विदत्थिचतुरंगुलप्पमाणं छिद्दं कातब्बं ·· (वही, पृ० 361)
2. ···दिट्ठवसेन वा फुट्ठवसेन वा। तस्मा समसीसट्ठितं·· उच्छंवा·· रुक्खं वा··· वातेन पहरियमानं दिस्वा ··वातो वातो ति भावेतब्बं। (वही, पृ० 362)
3. (वही, पृ० 363, 364, 365)
4. (अभिध० खण्ड 2, पृ० 872)
5. (विसु०, खण्ड 1, पृ० 377)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवतानुस्मृति, कायगतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, आनापानस्मृति एवं उपसमानुस्मृति। बुद्ध की अनुस्मृति में योगी को भगवान् बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये। जैसे—भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध हैं, विद्याचरण से सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोक को जानने वाले हैं, अनुपम पुरुषदम्य सारथी तथा देवमनुष्यों के शास्ता हैं।[1] इसी प्रकार धर्म का अनुस्मरण करने वाले योगी को धर्म के विषय में बार-बार इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि भगवान् बुद्ध का धर्म अच्छी तरह से कहा गया है, तत्काल फल देने वाला है, कालान्तर में फल की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती है, उसके विषय में 'आओ देखो' कहकर वताया जा सकता है तथा वह विज्ञ पुरुषों द्वारा अपने आप जानने योग्य है।[2] संघ के गुणों का अनुस्मरण करते समय योगी को यह विचारना चाहिये कि भगवान् बुद्ध का श्रावक संघ सीधे, न्यायसंगत एवं उचित मार्ग पर चल रहा है। स्रोतापत्ति आदि चार मार्गस्थ एवं चार फलस्थ पुरुषों को भगवान् के श्रावक संघ के रूप में जाना जाता है। यह श्रावक संघ आह्वान के योग्य, पाहुन बनाने के योग्य, दान देने के योग्य एवं हाथ जोड़ने के योग्य होता है। लोगों को श्रावक संघ की पूजा से पुण्य लाभ होता है।[3] शील का अनुस्मरण करते समय उसके अखण्ड निर्दोष, निर्मल आदि गुणों का सतत स्मरण किया जाता है।[4] त्यागानुस्मृति की भावना करने वाले योगी को सदा दान देने वाला होना चाहिये, साथ ही उसे अपने दान-कार्य रूप गुण से सन्तोष का अनुभव करना चाहिये।[5] देवतानुस्मृति की भावना करनेवाले योगी को विभिन्न देवताओं के श्रद्धा आदि गुणों का बार-बार चिन्तन करते हुए अपने में भी उन गुणों के अस्तित्व का अनुस्मरण करना चाहिये।[6] मरणानुस्मृति की भावना करनेवाले योगी को मरण एवं जीवितेन्द्रिय के विनाश की वास्तविकता को बार-बार

---

1. इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो ··· बुद्धो भगवा ति
(दी० नि० खण्ड 1, पृ० 55)
2. स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको, अकालिको ··· पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही ति।
(म० नि०, खण्ड 1, पृ० 50)
3. सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो यदिदं चत्तारिपुरिसयुगानि, अट्ठपुरिसपुग्गला··· अनुत्तरं पुञ्ञ खेत्तं लोकस्साति।
(वही,)
4. ···अरियसावको अत्तनो सीलानि अनुस्सरति अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि··· समाधिसंवत्तनिकानि।
(अं० नि० खण्ड 3, पृ० 9)
5. ···अत्तनो चागं अनुस्सरति—लाभा वत मे, सुलद्धं वत मे···दान सविभागरतो ति।
(वही)
6. अरियसावको देवतानुस्सतिं भावेति—सन्ति देवा चातुमहाराजिका···मयहं पि तथारूपा पञ्ञा संविज्जति ति.।
(वही, पृ० 10)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मरण कर दृढ़ करना चाहिये।[1] कायानुस्मृति की भावना में योगी चार महाभूतों से बने गन्दे शरीर के केश आदि पर विचार करता हुआ उनमें विरक्ति के भाव लाता है।[2] आनापान अनुस्मृति में योगी आनापान के गुणों का चिन्तन करता है[3] तथा उपशमानुस्मृति में योगी समस्त दुःखों के उपशय स्वरूप निर्वाण के गुणों का चिन्तन करता है।[4]

चार ब्रह्म विहार—सत्पुरूषों के उत्तम विहार को ब्रह्म विहार कहते हैं। ये न केवल चित्त की एकाग्रता का निमित्त हैं अपितु चित्तविशुद्धि के सर्वोत्तम साधन भी हैं। प्राणियों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये - इसकी शिक्षा ब्रह्म विहारों से मिलती है। ये प्रभेद की दृष्टि से चार हैं—मैत्री, करूणा मुदिता एवं उपेक्षा। जो योगी इन चार ब्रह्मविहारों की भावना करता है, वह सभी प्राणियों के हित-सुख की कामना करता है, दूसरों के दुःखों को दूर करने की चेष्टा करता है, जो सम्पन्न हैं उन्हें देखकर प्रमुदित होता है तथा उसका सभी प्राणियों के प्रति समभाव रहता है। इन चार ब्रह्मविहारों की भावना से चित्त के राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का क्षालन होता है। अन्य कर्मस्थान आत्महित के साधन हैं जबकि ये चार ब्रह्मविहार पर-हित के भी साधन हैं।[5]

चार ब्रह्म विहारों को अप्रमाण भी कहा गया है। इसका कारण यह है कि इनका आलम्बन प्रमाणरहित जीव होते हैं।[6]

जीवों के प्रति स्नेह और सुहृदभाव के साथ व्यवहार करना मैत्री है। मैत्री की भावना से द्वेष शान्त होता है।[7] यद्यपि मैत्री एवं राग एक जैसे स्वभाव के हैं किन्तु राग एक प्रकार का चित्त-मल है। राग के उत्पन्न होने पर मैत्री

---

1. ...मरणं भविस्सति जीवितिन्द्रियं उपच्छिज्जिस्सती ति वा मरणं मरणं ति वा योनिसो मनसिकारो पवत्तेतव्वो। (विसु० खण्ड 1 पृ० 505)
2. (अं० नि० खण्ड 1 पृ० 42, 45; म० नि० खण्ड 3 पृ० 151)
3. (विसु० खण्ड 1, पृ० 562–563)
4. यावता, भिक्खवे, धम्मा संखता वा असंखता वा विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति··· (अं० नि० खण्ड 2 पृ० 37)
5. बौद्ध धर्म–दर्शन, पृ० 94
6. मेत्ता, करूणा, मुदिता, उपेक्खा चेति इमा चतस्सो अप्पमञ्ञायो नाम; ब्रह्मविहारा' ति पि वुच्चन्ति। (अभिध० खण्ड 2 पृ० 881)
(द्रष्टव्य—सुमंगल० खण्ड 3, पृ० 349)
7. (खु० नि०, खण्ड 5 पृ० 379)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावना का राग को आसन्न शत्रु कहा गया है और व्यापाद को दूरस्थ शत्रु। यदि विवेक एवं सावधानी से इस मैत्री की भावना न की जाये तो चित्त में राग उत्पन्न हो सकता है। अतः योगी का कर्तव्य है कि वह मैत्री भावना को करते समय अपने चित्त में राग उत्पन्न न होने दें।[1]

दूसरों के दुःख को देखकर हृदय में होनेवाले कम्पन को करूणा कहते हैं।[2] जीवों के दुःखों को दूर करने के लिए करूणा होती है। करूणा की भावना करते समय योगी को शोक एवं दौर्मनस्य से चित्त को दूषित नहीं होने देना चाहिये। कारण, शोक, दौर्मनस्य इस भावना के निकटवर्ती शत्रु हैं। शोकाभिभूत योगी की करूणा-भावना नष्ट हो जाती है। अतः शोक न करते हुए उसे दूसरों के कष्टों को दूर करना चाहिये।[3]

इसी प्रकार योगी को दूसरों की सम्पन्नता को देखकर हर्षित होते समय सांसारिक प्रीति से तथा जीवों के प्रति समभाव को रखता हुआ अज्ञानतावश उत्पन्न उपेक्षा से सतर्क रहना चाहिये। कारण सांसारिक प्रीति एवं अज्ञानतावश होनेवाली उपेक्षा से क्रमशः मुदिता एवं उपेक्षा की भावना का नाश होता है।[4]

चार आरूप्य—जब योगी चतुर्थ रूपध्यान के अनन्तर रूप की समतिक्रम कर अरूप ध्यान की ओर प्रवृत्त होता है तो वह चार आरूप्य कर्मस्थानों को अपनी साधना का आलम्वन बनाता है। चार आरूप्य इस प्रकार हैं—आकाशानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

आकाशानन्त्यायतन में योगी जड़सृष्टि, इन्द्रिय-विषय का सम्बन्ध तथा रूप-शब्दादि आलम्बनों के विचार का निवारण कर 'आकाश अनन्त है' इस प्रकार की भावना करता है। योगी कसिण को आलम्बन बनाकर क्रमशः बड़ा करते हुए उसे विश्वाकार आकृति का वना लेता है। यह चतुर्थ रूपध्यान की स्थिति है। तत्पश्चात् योगी उस विश्वाकार रूपाकृति को दूर कर उसके स्थान पर विश्व में केवल एक आकाश है—इस प्रकार अरूप आलम्बन को ग्रहण कर

---

1. मेत्ताब्रह्मविहारस्स हि ··रागो आसन्नपच्चत्थिको। सो लहुं ओतारं लभति। तस्मा ततो सुट्ठु मेत्ता रक्खितब्बा। (विसु० खण्ड 2 पृ० 659)
2. परदुक्खे सति साधूनं हृदयकम्पनं करोती ति करूणा। (वही पृ० 676)
3. ···गेहसितं दोमनस्सं विपत्तिदस्सनसभागताय आसन्नपच्चत्थिकं। मुदिताब्रह्मविहारस्स··· (वही, पृ० 680)
4. सोमनस्सं आसन्नपच्चत्थिकं उपेक्खाविहारस्स पन···अञ्ञाणुपेक्खा·· आसन्नपच्चत्थिका (वही, पृ० 680–682)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकाश की अनन्तता के विषय में अपने ध्यान को पूर्ण करता है। योगी की इस स्थिति को आकाशानन्त्यायतन कहा जाता है।[1]

जब योगी आकाश-संज्ञा के स्थान पर विज्ञान की अनन्तता पर ध्यान करना चाहता है तो वह विज्ञानानन्त्यायतन को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। जब विज्ञान में भी दोष देखकर उसका भी समतिक्रम कर अभाव की अनन्तता को आलम्बन बनाता है तब उसे यह मान होता है कि संसार में कुछ भी नहीं है, सब कुछ शान्त है। इस प्रकार के ध्यान को करने वाला योगी आकिंचन्यायतन को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। तत्पश्चात् अभाव की स्थूल संज्ञा का त्याग करते योगी की स्थिति नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की होती है। इस स्थिति में संज्ञा अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहती है। चूंकि संज्ञा स्थूलरूप में नहीं रहती है. अतः उसे संज्ञा नहीं कह सकते हैं और चूंकि संज्ञा अत्यन्त सूक्ष्म रुप में रहती है अतः उसे असंज्ञा भी नहीं कहा जा सकता है। इन चार आरूप्यों को आलम्बन बनाते समय योगी के ध्यान के दो अंग ही रहते हैं— उपेक्षा एवं एकाग्रता।[2]

आहार में प्रतिकूल संज्ञा— चार आरूप्यों के अनन्तर आहार में प्रतिकूल संज्ञा नामक कर्मस्थान का उल्लेख मिलता है। यद्यपि कवलीहार, स्पर्शाहार, मनोसंचेतनाहार तथा विज्ञानाहार के रूप में आहार चार प्रकार का होता है किन्तु यहाँ आहार से केवल भवलीहार ही अभिप्रेत है। कवलीहार में प्रतिकूल संज्ञा से यह कर्मस्थान सिद्ध होता है। इस कर्मस्थान के सिद्ध होने पर योगी की रस सम्बन्धी तृष्णा नष्ट हो जाती है। फलतः वह रसास्वादन की अपेक्षा अपने शरीर की स्थिति के लिये ही आहार ग्रहण करता है। इससे उसके कामराग का प्रहाण होता है एवं कायगता स्मृति उत्पन्न होती है।[3]

चतुर्धातुव्यवस्थान—यह अन्तिम कर्मस्थान के रूप में उल्लिखित है। इसमें योगी अपने शरीर में विद्यमान पृथिवी, आप, तेज एवं वायु धातुओं के स्वभाव का विनिश्चय करता है। इससे योगी धातुओं में अनात्म दुःख एवं अनित्य संज्ञा में चित्त एकाग्र करता है।[4]

1. (वही, पृ० 700–701)
2. अभिध० खण्ड 2 पृ० 907–911
3. ...आहारे पटिक्कूलसञ्ञं अनुयुत्तस्स भिक्खुनो रसतण्हाय चित्तं पतिलीयति... कायगतासतिभावना पि पारिपूरिं गच्छति। (विसु० खण्ड 2 पृ० 749)
4. ...च धम्मा। खयट्ठेन अनिच्छा। भयट्ठेन दुक्खा। असारकट्ठेन अनत्ता। (वही, पृ० 797)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त चालीस कर्मस्थानों में से बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूल संज्ञा तथा चतुर्धातु व्यवस्थान - ये दस कर्मस्थान ऐसे हैं जिनसे चित्त के पाँच नीवरणों का प्रहाण होता है और वह प्रथम ध्यान की ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु इनमें लगा हुआ योगी अस्थिर होता है। वह कभी निमित्त को आलम्बन बनाता है तो कभी भवांग में अवतीर्ण हो जाता है। उसका चित्त तो एकाग्र होता है किन्तु उसके ध्यान के वितर्क विचार आदि पाँच अंग सबल न होने से वह प्रथम ध्यान में अधिक समय तक रह नहीं पाता है। दूसरे शब्दों में उक्त दस कर्मस्थानों से उपचार समाधि की सिद्धि होती है।[1] शेष तीस कर्मस्थानों से योगी नीवरणों का प्रहाण कर ध्यान की भावना करने में समर्थ होता है। उसके ध्यान-अंग बलशाली होते हैं। फलतः वह प्रथम ध्यान की अवस्था में पहुँच कर वहाँ स्थिर होता है और अगले ध्यान के लिये उद्योग करता है। दूसरे शब्दों में शेष तीस कर्मस्थानों को निमित्त बनाकर योगी अर्पणा समाधि को प्राप्त कर सकता है।[2]

जो तीस कर्मस्थान अर्पणा समाधि के निमित्त हैं, उनमें से दस कसिण एवं आनापानस्मृति से चारों ध्यान हो सकते है अर्थात् ये ग्यारह कर्मस्थान चार ध्यान वाले होते हैं। कायगता स्मृति तथा दस अशुभ केवल प्रथम ध्यान के ही आलम्बन हैं। मैत्री, करूणा तथा मुदिता—ये तीन ब्रह्मविहार तीन ध्यानों के आलम्बन है जबकि चौथा उपेक्षा नामक ब्रह्मविहार तथा चारों आरूप्य चतुर्थ ध्यान के आलम्बन होते हैं।[3]

चार ध्यानों के आलम्बन स्वरूप कर्मस्थानों में अंग का समतिक्रम होता है। वितर्क विचार आदि अंगों का समतिक्रम करता हुआ योगी उन्हीं आलम्बनों से अगले ध्यान को प्राप्त करता है। चार आरूप्यों में आलम्बन का समतिक्रम होता है। पहले नौ कसिणों का समतिक्रम करके आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त किया जाता है जबकि आकाशानन्त्यायतन आदि का समतिक्रम करके विज्ञान-

---

1. बुद्धानुस्सति आदीसु अट्ठसु सञ्ञा ववत्थानेसु चा ति दससु कम्मट्ठानेसु उपचार-भावना व सम्पज्जति, नत्थि अप्पना (अभिध० खण्ड 2 पृ० 890)
2. सेसेसु पन समतिंसकम्मट्ठानेसु अप्पनाभावना पि सम्पज्जति। (वही)
3. अप्पनावहेसु चेत्थ आनायानस्सतिया सद्धि दस कसिणा चतुक्कज्झानिका होन्ति··· (विसु० खण्ड 1 पृ० 236–237)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नन्त्यायतन आदि को प्राप्त किया जा सकता है। शेष कर्मस्थानों का समतिक्रम नहीं होता है।[1]

दस कसिणों द्वारा जितना क्षेत्र व्याप्त होता है, उतने क्षेत्र में दिव्य श्रोत्र से शब्द सुने जा सकते हैं, दिव्यचक्षु से रूप देखे जा सकते हैं तथा परचित्त का का ज्ञान हो सकता है, अतः दस कसिणों में वृद्धि करनी चाहिये। किन्तु दस अशुभों एवं कायगतास्मृति में वृद्धि करने से कोई लाभ नहीं होता है। शेष कर्मस्थानों में भी वृद्धि नहीं करनी चाहिये।[2]

दस कसिण, दस अशुभ, आनापानस्मृति तथा कायगतास्मृति इन बाइस कर्मस्थानों में प्रतिभाग निमित्त आलम्बन होते हैं। शेष कर्मस्थान प्रतिभाग निमित्त आलम्बन वाले नहीं होते हैं। विपुब्बक, लोहितक, पुलवक आदि आठ में चल आलम्बन होते हैं। हालाँकि उनका प्रतिभाग निमित्त स्थिर होता है।

दस अशुभ, कायगतास्मृति तथा आहार में प्रतिकूल संज्ञा--ये बारह कर्मस्थान देवलोक में नहीं होते है। ब्रह्मलोक में उन बारह के साथ आनापान स्मृति भी नहीं होती है। अरूपलोक में चार आरूप्य कर्मस्थान ही हो सकते हैं। किन्तु मनुष्यलोक में सभी कर्मस्थान हो सकते हैं।

इसी प्रकार वायु कसिण को छोड़कर शेष नौ कसिण तथा दस अशुभ कर्मस्थानों को देखकर ग्रहण करना चाहिये। कायगतानुस्मृति में केश, लोम, नख, दाँत एवं त्वचा को देखकर तथा शेष अंगों को सुनकर ग्रहण करना चाहिये। आनापानस्मृति को स्पर्श कर, वायुकसिण को देख-सुनकर तथा शेष कर्मस्थानों को सुनकर ग्रहण करना चाहिये।

नौ कसिण चार अरूप ध्यानों के कारण होते हैं। दस कसिणों से अभिज्ञा की प्राप्ति होती है तथा पहले तीन ब्रह्मविहार चौथे ब्रह्मविहार के कारण हैं।[3]

इस तरह से कर्मस्थानों के स्वरूप को समझना चाहिये। यही कर्मस्थान समाधि की भावना हेतु होते हैं। अतः यहाँ योगी कर्मस्थान ग्रहण करने के लिए क्या प्रक्रिया अपनाये—इसका संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कर्मस्थान-ग्रहण-प्रक्रिया

पालि के ग्रन्थों में न केवल बौद्ध योग-साधना के स्वरूप को विस्तार से बताया गया है अपितु योग-साधना के इच्छुक भिक्षु को किस क्रम से क्या-क्या

1. तत्थ सब्बेसु पि तिकचतुक्कज्झानिकेसु कम्मट्ठानेसु अंगसमतिक्कमो होति··· सेसेसु समतिक्कमो नत्थीति ··· (वही, पृ० 237.)
2. (वही, 237–238.)
3. (वही, 240–242)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिये इसे भी स्पष्ट रूप से समझाया गया है। विशुद्धिमग्ग में योगी के कृत्यों को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि उसे पढ़कर कोई भी भिक्षु योग-साधना में प्रवृत्त हो सकता है। परिशुद्धशील में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित होकर सर्वप्रथम योगी को दस विघ्नों का निवारण करना चाहिये। तत्पश्चात् कर्मस्थान देनेवाले कल्याणमित्र के पास जाकर अपनी चर्या के अनुसार चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण कर समाधि भावना के अयोग्य विहार का त्यागकर योग्य विहार में रहते हुए छोटे-मोटे विघ्नों को दूर करके समाधि करने के सम्पूर्ण विधान का पालन करते हुए समाधि की भावना करना चाहिये।[1] अतः यहाँ दश विघ्नों का परिहार, कल्याणमित्र के पास जाकर उसके प्रति व्यवहार चर्या-विनिश्चय, अयोग्य विहार का परित्याग, योग्य विहार का ग्रहण, छोटे-मोटे विघ्नों का निवारण आदि विषयों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

दश विघ्नों का परिहार

समाधि के निमित्त भूत कर्मस्थान को ग्रहण करने के इच्छुक भिक्षु को सबसे पहिले आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आवाध, ग्रंथ एवं ऋद्धि से सम्बन्धित दश विघ्नों का परिहार कर लेना चाहिये।[2] कारण, अगर विघ्नों का परिहार किये बिना कोई भिक्षु कर्मस्थान का ग्रहण करता है तो विघ्नों के कारण चित्त की एकाग्रता के निमित्त के रूप में उसका समुचित उपयोग नहीं किया जा सकता है।

यदि कोई भिक्षु किसी नये काम में उत्सुकता रखता हो तथा उसके लिये उसने विभिन्न प्रकार की सामग्री का संग्रह किया हो अथवा किसी कारण से उसका आवास से लगाव हो तो आवास उसके लिए विघ्न होता है।[3] कुल से ज्ञाति कुल तथा सेवक का कुल अभिप्रेत है। इन कुलों में लगाव होने से समाधि की भावना में विघ्न उपस्थित होता है। कुछ भिक्षु कुल के मनुष्यों के बिना धर्मश्रवण तक

---

1. ...सो वुत्तनयेन सीलानि विसाधेत्वा...अञ्ञ तरं कम्मट्ठानं गहेत्वा...सब्बं भावनाविधानं भावेतब्बो ति। (वही, पृ० 201)
2. आवासो च कुलं लाभो गणों कम्मं च पंचमं। अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धी ति ते दसा ति।
   एवं वुत्तेसु दससु पलिबोधेसु यो पलिबोधने अत्थि, सो उपच्छिन्दितब्बो। (समन्त०, खण्ड 2 पृ० 414; विसु० खण्ड 2 पृ० 201)
3. यो पनेत्थ नवकम्मादीसु उस्सुक्कं वा आपज्जति...केनचि वा कारणेन अपेक्खवा पटिबद्धचित्तो, तस्सेव पलिबोधो होति। (विसु० खण्ड 1 पृ० 201)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को नहीं जाते हैं।[1] इसके अतिरिक्त जिस कुल से भिक्षु को लाभ-सत्कार मिलता हो, सामान्यतया वह भिक्षु उस कुल से लगाव रखने लगता है। इस प्रकार के भिक्षु को कुल से लगाव का उपच्छेद करना चाहिये।

चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा ग्लानप्रत्ययभैषज्य—इन चार प्रत्ययों की प्राप्ति को लाभ कहते हैं। भिक्षु को इन प्रत्ययों की आवश्यकता होती है। किसी किसी भिक्षु को यह लाभ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। जगह-जगह से उसको निमन्त्रण मिलता है। उसे दान का अनुमोदन कर दाताओं को धर्मोपदेश देना पड़ता है। फलतः उसे समाधि के लिये अवकाश नहीं मिल पाता है। ऐसे भिक्षु को लाभ का लोभ त्याग कर ऐसे स्थान में जाकर रहना चाहिये जहाँ उसे कोई न जानता हो। इससे वह लाभजन्य विघ्न से प्रभावित नहीं होता है।[2]

गण समूह को कहते हैं। गण में रहने से लोग उससे प्रश्न पूछते हैं और उसके पास पाठ के लिये भी आते हैं। इससे उसको समाधि की भावना करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः अगर पाठ थोड़ा रह गया हो तो उसे समाप्त करने के बाद ही कर्मस्थान-ग्रहण करने का विचार करना चाहिये। यदि पाठ अधिक हो तो उसे अपने शिष्यों को दूसरे गणवाचक को सौंपकर ही कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिये। यदि कदाचित् गणवाचक न मिले तो शिष्यों को अपना मन्तव्य बताकर उनसे अवकाश ले लेना चाहिये।[3]

कर्म का अर्थ नवकर्म है। जो नया कार्य कराता है उसको मजदूरों के कार्य का निरीक्षण करना होता है जिससे समाधि-भावना के लिये उसे समुचित समय ही नहीं मिल पाता है। अतः भिक्षु को कर्मस्थान ग्रहण करने के लिये जाने के पूर्व यदि थोड़ा सा ही कार्य बचा हो तो उसे पूर्ण करके ही कर्मस्थान-दायक के पास जाना चाहिये। यदि कदाचित् अधिक कार्य शेष हो तो उसे संघहारक भिक्षुओं को सौंपकर ही कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिये यदि ऐसा अवसर भी उपलब्ध न हो तो उसे संघ का परित्याग करके चले जाना चाहिये।[4]

यदि भिक्षु को कहीं से कुछ पाना होता है अथवा कहीं किसी की प्रव्रज्या के लिये जाना है तो वह अपनी इच्छा की पूर्ति के बिना अपने चित्त को स्थिर

1. कुलं ति ञातिकुलं वा उपट्ठाककुलं वा···सो कुलमनुस्सकेहि विना धम्मस्सवानाय सामन्तविहारं पि न गच्छन्ति। (वही, पृ० 203)
2. (वही, पृ० 206)
3. (वही, पृ० 207)
4. वही,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं रख सकता है जिससे समाधि में अन्तराय होने की पूरी सम्भावना रहती है। अतः उसे सर्वप्रथम गन्तव्य स्थान को जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिये।[1]

ज्ञाति के कारण भी विघ्न उपस्थित होता है। विहार में आचार्य, उपाध्याय आदि तथा घर में माता-पिता भाई आदि ज्ञाति होते हैं। जब ज्ञाति बीमार होते हैं तो भिक्षु की साधना में विघ्न उपस्थित होता है। अतः ज्ञाति के बीमार पड़ने पर उनके रोगमुक्त होने तक भिक्षु को उनकी सेवा शुश्रुषा करनी चाहिये। तत्पश्चात् कर्मस्थान ग्रहण करने के लिये जाना चाहिये। इसी प्रकार आबाध, ग्रन्थ एवं ऋद्धि के द्वारा भी अन्तराय उपस्थित हो जाते हैं अतः उनका भी निवारण कर लेना चाहिये।[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋद्धि विपश्यना में अन्तराय होती है, समाधि में नहीं। अतः समाधि की भावना करने के इच्छुक योगी के लिए सर्वप्रथम उक्त नौ विघ्नों को उपच्छेद करना नितान्त आवश्यक है।[3]

कर्मस्थान-दायक की सेवा

भिक्षु को विघ्नों का उपच्छेद कर कर्मस्थान ग्रहण करने के लिये कल्याण-मित्र के पास जाना चाहिये। कर्मस्थान के दायक को कल्याणमित्र कहा जाता है क्योंकि वह एकान्त, हितैषी, गम्भीर कथा का कहने वाला तथा अनेक गुणों से युक्त होता है।[4] यदि कल्याणमित्र उसी विहार में रहता हो तो उत्तम है। अन्यथा अपना पात्र और चीवर लेकर कल्याणमित्र के आवास को प्रस्थान करना चाहिये। मार्ग में जो भी विहार मिलें, वहाँ उस भिक्षु को समुचित कर्तव्य एवं सेवा कार्य करना चाहिये। कल्याणमित्र स्वरूप आचार्य के वास-स्थान पर पहुँचकर सीधे आचार्य से मिलना चाहिये। यदि आचार्य अवस्था में बड़े हों तो उनकी वन्दना करनी चाहिये। यदि आचार्य अवस्था में छोटा हो तो उसे पात्र-चीवर ग्रहण नहीं करने देना चाहिये। वहाँ पहुँचकर दूसरे दिन से ही भिक्षु को कर्मस्थान-दायक आचार्य की उसी प्रकार सेवा करनी चाहिये जिस प्रकार अन्तेवासी अपने आचार्य की

---

1. (वही, पृ० 207-208)
2. (वही, पृ० 208–212)
3. ···तस्मा विपस्सनत्थिकेन इद्धिपलिबोधो उपच्छिन्दितब्बो, इतरेन अवसेसा ति। (वही, पृ० 212)
4. पियो गरू भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
   गम्भीरं च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजको॥ (अं० नि० खण्ड 3 पृ० 177)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा करता है। सेवा से प्रसन्न होकर आचार्य जब भिक्षु से उसके आने का कारण पूछें तभी उसे अपना प्रयोजन कहना चाहिये। यदि आचार्य सेवा लेते रहें और आने का कारण न पूछें तो अवसर देखकर स्वयं बताना चाहिये। भिक्षु को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कर्मस्थानदायक आचार्य किसी बात पर रूष्ट न हों और इसके लिये यह आवश्यक है कि भिक्षु आचार्य के समीप आत्मभाव का परित्याग कर दे। प्रसन्न होकर आचार्य भिक्षु की चर्या को ठीक से समझकर उसके अनुसार उचित कर्मस्थान की गम्भीर शिक्षा देता है और बोधि के परिपाक में सहायक अलोभ, अद्वेष, अमोह, नैष्क्रम्य प्रविवेक तथा निस्सरण रूप छः अध्यासयों वाला भिक्षु कर्मस्थान की शिक्षा को समुचित ढंग से ग्रहण करता है। इससे भिक्षु की समाधि-साधना भली-भाँति सम्पन्न होती है।[1]

चर्या

समाधि-साधना में चर्या के विनिश्चय को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। चर्या के प्रतिकूल कर्मस्थान समाधि का कुशल निमित्त नहीं बन सकता है। अतः यहाँ पर चर्या के प्रभेद, चर्या-निदान, चर्या-विनिश्चय तथा चर्या के अनुरूप कर्मस्थानों का विवरण देना समुचित है।

चर्या-प्रभेद—चर्या का अर्थ है प्रकृति। जब किसी व्यक्ति में अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी विशेष धर्म की अधिकता होती है तो उस विशेष धर्म को उस व्यक्ति की प्रकृति कहा जाता है।[2] व्यक्ति का विशेषण होने पर उसे चरित तथा भाव की अपेक्षा से चर्या कहा जाता है।

चर्या मूलतः छः हैं—रागचर्या, द्वेष-चर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या तथा वितर्कचर्या। इन्हीं चर्याओं के आधार पर व्यक्ति भी छः प्रकार के होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित तथा वितर्क-चरित।[3] जिस समय रागचरित पुरूष की शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है उस समय उसमें श्रद्धा बलवती होती है। इसी प्रकार द्वेषचरित पुरूष में बुद्धि एवं मोहचरित पुरूष में वितर्क का आधिक्य होता है। अतः समानता के आधार पर इन छः चर्याओं का तीन युगलों में समावेश हो जाता है—राग-श्रद्धा, द्वेष-बुद्धि तथा मोह-वितर्क।[4]

1. विसु० खण्ड 1 पृ० 215–218 तथा महावग्गो, पृ० 48
2. चरिया, पकति उस्सन्नता ति अत्थतो एकं। (विसु० खण्ड 1, पृ० 219)
3. तासं वसे छक्केव पुग्गला होन्ति रागचरितो, दोसचरितो ··वितक्कचरितो ति। (वही)
4. यस्मा रागचरितस्स···सद्धा बलवती होति···तस्मा रागचरितस्स सद्धाचरितो सभागो। यस्मा पन दोसचरितस्स··· (वही, पृ० 219–220)
द्रष्टव्य अभिध० खण्ड 2 पृ० 864–867

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ लोग उक्त छः चर्याओं के अतिरिक्त तृष्णा, मान और दृष्टि को भी चर्या के रूप में मानते हैं किन्तु सूक्ष्मता से विचारने पर स्पष्ट होता है कि तृष्णा तथा मान—ये दोनों राग में समाविष्ट हैं जबकि दृष्टि मोह के अन्तर्गत है।[1] अतः मूलतः छः चर्यायें तथा समानता के आधार पर वे तीन युगलों में ही विवेचनीय हैं।

चर्या-निदान—इन चर्याओं के निदान पर विचार करते हुए कुछ लोग पूर्वजन्मों के आचरण तथा धातु-दोष की अधिकता को ही चर्याओं की विभिन्नता का मूल कारण मानते हैं। उनके अनुसार जिसने पूर्वजन्मों में अनेक अच्छे कार्य किये हैं तथा जो स्वर्गलोक से च्युत होकर मनुष्य के रूप में जन्म लेता है, वह पुरूष सदाचरित होता है। इसी प्रकार जिसने पूर्वजन्मों में अनेक वैरकर्म किये हैं तथा जो निरय या नाग-योनि से च्युत होकर मनुष्य रूप में जन्म लेता है, ऐसा पुरुष द्वेषचरित होता है। जिसने पूर्वजन्मों में बहुत अधिक मद्य सेवन किया है तथा जो निकृष्ट पशु-योनि से मनुष्य के रूप में जन्म लेता है, ऐसा व्यक्ति मोहचरित होता है।

इसी प्रकार जिस पुरुष के शरीर में पृथ्वी तथा जल इन दो धातुओं का आधिक्य रहता है वह मोहचरित होता है, तेज और वायु धातु के आधिक्य से द्वेषचरित तथा चारों धातुओं के समभाव में रहने से पुरुष रागचरित होता है।[2]

चर्या-विनिश्चय—किसी पुरुष की चर्या का विनिश्चय उसके ईर्यापथ (चाल-ढाल), कृत्य, भोजन, दर्शन तथा धर्मप्रवृत्ति से किया जा सकता है।

रागचरित व्यक्ति स्वाभाविक रूप से गमन करता है। उसके धीरे-धीरे पैर रखने में चातुर्य झलकता है। वह समभाव से पैर रखता तथा उठाता है और उसके पैर का मध्य भाग पृथ्वी से स्पर्श नहीं करता है। उसके खड़े होने तथा बैठने का ढंग भी मधुर होता है। वह अपना बिछौना ठीक से बिछाता है और धीरे-धीरे शयन करता है। शयनावस्था में वह अपने हाथ-पैर इधर-उधर नहीं पटकता है तथा उठाये जाने पर वह चौंककर नहीं उठता है।

द्वेषचरित व्यक्ति चलते समय भूमि को खोदते हुए-सा चलता है। वह सहसा पैर उठाता और रखता है। पैरों के निक्षेप से ऐसा प्रतीत होता है कि वह पीछे की ओर खिंच रहा हो। उठने-बैठने में वह स्तब्ध हो जाता है। सोते

1. विसु० खण्ड 1, पृ० 220–221
2. वही, पृ० 221–222

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by·Sarayu Trust/eGangotri

समय वह जिस किसी प्रकार अपने बिछौने को बिछाता है और शयनावस्था में हाथ-पैर इधर-उधर पटकता है। उठाये जाने पर वह क्रुद्ध होकर उठता है।

मोहचरित व्यक्ति की गति व्याकुल होती है। वह डरे हुए व्यक्ति की तरह पैर उठाता और रखता है। उठने और बैठने के समय वह आकुल दिखायी देता है। वह अस्त-व्यस्त बिछौना बिछाकर हाथ-पैर फैलाकर और मुंह नीचा कर सोता है। उठाये जाने पर हुंकार भरते हुए मन्द भाव से उठता है।

इसी प्रकार कृत्य, भोजन, दर्शन तथा धर्म-प्रवृत्ति के विषय में भी जानना चाहिये। रागचरित व्यक्ति झाड़ू लगाने के कार्य में झाड़ू को अच्छी तरह से पकड़कर सावधानी से झाड़ू लगाता है। द्वेषचरित व्यक्ति झाड़ू को दृढ़ता से पकड़कर कूड़े को इधर-उधर बिखेरते हुए झाड़ू लगाता है जबकि मोहचरित व्यक्ति अस्त-व्यस्त एवं शिथिल होकर विषम ढंग से झाड़ू लगाता है। रागचरित व्यक्ति को मधुर भोजन प्रिय होता है, द्वेषचरित वाले को रूक्ष एवं अम्ल भोजन अच्छा लगता है जबकि मोहचरित वाले को किसी प्रकार के भोजन में रूचि नहीं होती है। रागचरित मनोरम रूप को देखकर विस्मित होकर बड़ी देर तक उसे देखता रहता है. द्वेषचरित मनोरम रूप देखकर उसका प्रतीकार करने लगता है जब कि मोहचरित किसी चीज की प्रशंसा या निन्दा दूसरे व्यक्ति के अनुसार करता है। रागचरित में माया, शाठ्य, घमण्ड, असन्तोष आदि बहुलता से पाये जाते हैं वेवरति द्वेषचरित में क्रोध, दूसरों के अपराधों में गाँठ बाँधने आदि की भावना होती है जबकि मोहचरित में आलस्य, संशय, अशान्ति की बहुलता पायी जाती है।

श्रद्धाचरित के ईर्यापथ, कृत्य, भोजन तथा दर्शन रागचरित जैसे ही होते हैं किन्तु उसमें माया शाठ्य आदि दुर्गुण न होकर त्याग, शील, धर्मदेशना, धर्मश्रवण आदि कुशल धर्म होते हैं। इसी प्रकार बुद्धि तथा वितर्क चरित वाले व्यक्तियों के ईर्यापथ आदि क्रमशः द्वेष एवं मोहचरित व्यक्तियों जैसे ही होते हैं। किन्तु बुद्धिचरित में क्रोध आदि के स्थान पर सौ-वचस्य, कल्याणमित्रता, भोजन की मात्रा का ज्ञान आदि धर्म होते है और वितर्कचरित में आलस्य, संशय आदि के स्थान पर आलाप बाहुल्य, अनेक लोगों के समूह के साथ रहने की दिलचस्पी आदि गुण होते हैं।[1]

---

1. चर्या की विभावना पालि त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं में उपलब्ध नहीं होती है। किन्तु आचार्य बुद्धघोष के विसुद्धिमग्ग खण्ड 1 पृ० 226–231 में उसका विस्तृत विवेचन किया गया है।
द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म–दर्शन, पृ० 52

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य योग-साधना के इच्छुक भिक्षु को कर्मस्थान देने के पूर्व उसकी चर्या की परीक्षा करता है। जो आचार्य दूसरे के चित्त को जानने का सामर्थ्य रखता है, वह भिक्षु के चित्त को समझकर उचित कर्मस्थान की शिक्षा देता है किन्तु जो आचार्य दूसरे के चित्त को जानने की शक्ति नहीं रखता है, वह विविध प्रश्नों के द्वारा योगी की चर्या को जानने का प्रयत्न करता है। वह योग के इच्छुक भिक्षु से पूछता है कि तुम कैसा आचरण करते हो ? तुम्हें किस काम को करने से प्रसन्नता का अनुभव होता है ? आदि। इस प्रकार नाना प्रश्नों को करने के बाद जब आचार्य भिक्षु की चर्या का विनिश्चय कर देता है तो फिर उस चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का उपदेश देता है। भिक्षु का कर्त्तव्य है कि वह कर्मस्थान का अर्थ और अभिप्राय भली-भाँति समझ ले क्योंकि जो भिक्षु आदर-पूर्वक कर्मस्थान के विवेचन को ध्यान से सुनता है उसी का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।[1]

चर्यानुकूल कर्मस्थान

अब यह उल्लेखनीय है कि चरित के पुरुष को कौन सा कर्मस्थान अनुकूल होता है। छः चरितों में से राग, द्वेष, मोह तथा वितर्क—ये चार चरित अकुशल चरित हैं। अतः इनका प्रहाण करने के लिये इनके विपरीत कर्मस्थानों की भावना करनी चाहिये। शेष दो अर्थात् श्रद्धा और बुद्धि कुशल चरित हैं, अतः इन चरितों के लिये वे कर्मस्थान अनुकूल होते हैं जो श्रद्धा और बुद्धि में अभिवृद्धि करें।

रागचरित वालों के लिए दस अशुभ तथा कायगतास्मृति—ये ग्यारह कर्मस्थान अनुकूल पड़ते हैं। कारण इनको निमित्त बनाने से राग की शान्ति होती है।[2]

द्वेषचरित योगी अगर अनिष्ट का आलम्बन करेगा तो उसके द्वेष में और वृद्धि होगी। अतः द्वेष का प्रहाण करने के लिए उसे मैत्री, करूणा, मुदिता एवं उपेक्षा—इन चार ब्रह्मविहारों तथा चार वर्णकसिणों (नील, पीत, लोहित एवं अवदात) की भावना करनी चाहिये।[3]

---

1. विसु० खण्ड 1 पृ० 249–251
2. रागचरितस्स ताव एत्थ दस असुभा कायगतासती ति एकादस कम्मट्ठानानि अनुकूलानि। (वही, पृ० 242)
3. दोसचरितस्स चत्तारो ब्रह्मविहारा चत्तारि वण्णकसिणानी ति अट्ठ। (वही)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहचरित का चित्त चंचल होता है। कारण वह संशय एवं औद्धत्य से परिपूर्ण होता है। वितर्क चरित वाले का चित्त भी तार्किक होने से चञ्चल होता है। अतः इन दोनों चरित वालों के लिये आनापान स्मृति अनुकूल कर्मस्थान है। कारण आनापान स्मृति कर्मस्थान में श्वास के लेने तथा छोड़ने पर चित्त को लगाने से वह अपनी चञ्चलता एवं अशान्ति पर नियंत्रण कर सकता है।[1]

स्वभाव से ही श्रद्धावान् पुरुष यदि बुद्ध आदि आलम्बनों को प्राप्त करता है तो उसकी श्रद्धा में अभिवृद्धि होने लगती है। अतः श्रद्धाचरित पुरुष के लिये बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति तथा देवतानुस्मृति --ये छः कर्मस्थान अनुकूल पड़ते हैं।[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये छः अनुस्मृतियाँ आर्य—श्रावकों को ही प्राप्त होती हैं। कारण, उन्हें बुद्ध, धर्म तथा संघ के गुणों की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त वे अखण्डित आदि गुण वाले शीलों में मात्सर्य-रहित होते हैं। ऐसा होने पर भी सामान्य जनों को ये अनुस्मृतियाँ सुखप्रद होती हैं क्योंकि उनसे मन में प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है।[3]

बुद्धचरित वाले पुरुष को जब सूक्ष्म एवं गम्भीर आलम्बन की प्राप्ति होती है तो उसकी बुद्धि और अधिक तीव्र एवं प्रखर हो जाती है। अतः कर्म-स्थानों में सूक्ष्म एवं गम्भीर मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूल संज्ञा तथा चतुर्धातु व्यवस्थान ये चार कर्मस्थान बुद्धिचरित वाले पुरुष की बुद्धि को बढ़ाने में सहायक होने के कारण अनुकूल पड़ते हैं।[4]

उपर्युक्त कर्मस्थानों से अवशिष्ट पृथ्वीकसिण, आपोकसिण, तेजोकसिण, वायुकसिण, आलोककसिण तथा परिच्छिन्नाकाशकसिण एवम् चार आरूप्य—ये दस कर्मस्थान सभी चरितवालों के लिये अनुकूल होते हैं।[5]

इसके अतिरिक्त रागचरित वाले भिक्षुओं का चीवर, पिण्डपात, शयनासन ऐसे होना चाहिये जिन्हें देखकर घृणा उत्पन्न हो। इसी प्रकार द्वेषचरित के सामान ऐसे होने चाहिये जिन्हें देखने मात्र से प्रीति-प्रामोद्य उत्पन्न हो। मोह-चरित वालों के परिष्कार ऐसे हों जिन्हें देखने से कुण्ठा उत्पन्न न हो। इस

---

1. मोहचरितस्स वितक्कचरितस्स च एकं आनापानस्सतिकम्मट्ठान मेव। (वही)
2. सद्धाचरितस्स पुरिमा छ अनुस्सतियो। (वही)
3. इमा पन छ अनुस्सतियो अरियसावकानं येव इज्झन्ति···एवं सन्ते पि · पुथुज्जनेनापि मनसि कातब्बा। (वही, पृ० 499–501)
4. बुद्धिचरितस्स मरणसति उपसमानुस्सति···चत्तारि (वही पृ० 242–243)
5. सेसकसिणानि चत्तारो च आरूप्पा सब्बचरितानं अनुकूलानि। (वही, पृ० 243)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार के परिष्कारों से ही भिक्षु अपनी योग-साधना में सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[1]

योगी को कल्याणमित्र के समीप अपनी चर्या के अनुकूल किसी कर्मस्थान को ग्रहण कर उसे निमित्त बनाकर पूरे विधि-विधान के समाधि-भावना का अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये उस योगी को सर्वप्रथम अयोग्य विहार का त्याग कर योग्य विहार में रहकर छोटे-मोटे विघ्नों को दूर कर लेना आवश्यक है।

सामान्यतः योगी के लिये महाविहार, नवविहार, जीर्णविहार राजपथ के समीप में विद्यमान विहार पुष्करिणी के समीप का विहार आदि में निवास नहीं करना चाहिये। कारण, ऐसे स्थानों पर रहने से सदैव किसी न किसी प्रकार की वाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। उदाहरणस्वरूप महाविहार में यदि कोई दैनिक कार्य नहीं हुआ हो तो उसे करना होता है। एकान्त में समाधि-भावना करते समय विभिन्न प्रकार के शोर से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। नये विहार में बहुत-सा नया काम होता है, जीर्ण विहार में मरम्मत का काम लगा रहता है। राजपथ के समीप के विहार में आगन्तुकों का तांता लगा रहता है। समीप में पुष्करिणी होने पर पानी भरने, चीवर धोने तथा रंगने वालों का जमघट लगा रहता है। यदि ऐसी जगर विहार हो जहाँ शाक, पर्ण, फल या फूल के वृक्ष हों तो वहाँ भी नहीं रहना चाहिये। कारण, वहाँ शाक पर्ण आदि को लेने वाले आया करते हैं। लोकसंमत स्थान के दर्शनार्थ लोग आया करते हैं, नगर के समीप में कामोत्तेजक शब्द सुनाई देते हैं, खेतों के मध्य में विद्यमान विहार में किसान खलिहान बनाते हैं। सारांश यह कि कर्मस्थान में निमित्त-भावना का अभ्यास करने के इच्छुक योगी को ऐसे विहारों में निवास नहीं करना चाहिये जहाँ विभिन्न प्रकार के कार्यों या मनुष्यों से योग-साधना में विघ्न उपस्थित हो।[2]

योगी के लिये वे विहार निवास के योग्य होते हैं जो भिक्षाग्राम से न तो अधिक दूर हों और न ही अधिक पास। जहाँ आने-जाने की सुविधा हो, जहाँ दिन में मनुष्यों की भीड़ तथा रात्रि में शोरगुल न हो और जहाँ हवा, धूप, मच्छर, खटमल, साँप आदि की बाधा न हो।[3]

---

1. वही, पृ॰ 232–235
2. तत्थ अननुरूपो नाम अट्ठारसन्नं दोसानं अञ्ञ तरेन समन्नागतो।···
   (वही पृ॰ 254–259)
3. द्रष्टव्य विसु॰ खण्ड 1 पृ॰ 259–260

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुकूल विहार में भी साधना के पूर्व योगी को छोटे-मोटे अन्तरायों को भी दूर कर लेना आवश्यक है। इनमें मैला चीवर या पात्र को शुद्ध करना, बढ़े हुए केश तथा नख को कटवाना तथा जीर्ण एवं फटे हुए चीवर की मरम्मत करना आदि प्रमुख हैं। यदि योगी इन अन्तरायों को दूर किये बिना योग-साधना करेगा तो उसका चित्त मैले चीवर या पात्र तथा बढ़े हुए केश या नख के कारण एकाग्र नहीं हो पायेगा।[1]

कर्मस्थान-भावना-विधि

चालीस कर्मस्थानों की भावना-विधि अलग-अलग होती हुई भी कुछ बातों में समान है। सभी कर्मस्थानों की भावना-विधि का यहाँ वर्णन करना न तो सम्भव है और न ही इष्ट, अतः यहाँ पृथ्वीकसिण की भावना-विधि का विवेचन किया जा रहा है।

भोजन के उपरान्त योगी किसी एकान्त स्थान में सुखपूर्वक बैठकर कृत्रिम या अकृत्रिम पृथ्वीमण्डल की भावना करता हुआ पृथ्वीनिमित्त को ग्रहण करता है। वह पृथ्वीमण्डल को बार-बार देखकर उसे इस प्रकार चित्त में धारण करता है कि फिर से देखते ही वह निमित्त उपस्थित हो जाये।

जिस साधक ने पूर्व जन्म में पृथ्वीकसिण की भावना कर चित्त को एकाग्र कर लिया है उसके लिये कृत्रिम पृथ्वीमण्डल बनाना आवश्यक नहीं है। वह तो प्राकृतिक पृथ्वीमण्डल में ही निमित्त ग्रहण कर लेता है। किन्तु पूर्वजन्म के अनभ्यस्त योगी को नील, पीत, लोहित एवं अवदात वर्णों से भिन्न अरुण (भूरे) रंग की मिट्टी लेकर काष्ठफलक या वस्त्र-खण्ड में उसका लेप करके कम से कम एक बालिश्त चार अंगुल प्रमाण का गोल कसिण-मण्डल बनाना चाहिये। तत्पश्चात् उस मण्डल को नीलवर्ण के किनारे से घेर देना चाहिये। बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मण्डल ऊबड़-खाबड़ न हो। इसके लिए मिट्टी के तृण कङ्कण आदि को निकाल कर उसे शुद्ध कर लेना चाहिये।

इस प्रकार से बने हुये कसिणा-मण्डल को साफ किये गये एकान्त स्थान पर रखकर उससे ढाई हाथ की दूरी पर बैठकर आँख को मध्यम रूप से खोलकर कसिण-मण्डल को देखना चाहिये। देखते समय पृथ्वी के वर्ण तथा लक्षण को ध्यान में न रखकर केवल पृथ्वी-द्रव्य को देखना चाहिये तथा 'पृथ्वी-पृथ्वी' इस प्रकार का उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार पृथ्वी-कसिण की भावना करते

1. वही,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय कभी आंख बन्द करके उसका चिन्तन भी करना चाहिये। जब आँख बन्द करने पर भी वह कसिण-मण्डल उसी प्रकार दिखने लगे जिस प्रकार आँख खोलने पर दिखायी देता है, तब उसे उद्ग्रह निमित्त कहते हैं। उद्ग्रह निमित्त के उत्पन्न हो जाने के बाद योगी को उस स्थान से उठकर अपने निवास-स्थान में बैठकर उस कसिणमण्डल की भावना करनी चाहिये।

उद्ग्रह निमित्त का आलम्बन लेकर जब योगी बार-उसी कसिण मण्डल की भावना करता है तो उसकी श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियाँ सुविशद और तीक्ष्ण हो जाती हैं। इससे कामादि दोष का प्रहाण और प्रतिभाग निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। प्रतिभाग निमित्त उद्ग्रह निमित्त से कई गुना सुपरिशुद्ध होता है। उद्ग्रह निमित्त में तो कसिण-मण्डल में उँगली के निशान आदि दिखायी देते हैं लेकिन प्रतिभाग निमित्त एकदम एक स्वच्छ विशुद्ध एवं स्पष्ट होता है। प्रतिभाग निमित्त के उत्पन्न होने पर पाँच नीवरणों का प्रहाण होता है और योगी उपचार समाधि को प्राप्त कर चित्त को प्रथम ध्यान की ओर ले जाता है। प्रतिभाग निमित्त की उत्पत्ति कठिन होती है। अतः योगी का कर्तव्य है कि पुनः-पुनः भावना कर उसकी रक्षा करे। यदि प्रतिभाग निमित्त की रक्षा न की गयी तो वह नष्ट हो जाता है जिससे योगी उपचार समाधि से गिरकर अपनी प्रारम्भिक स्थिति में आ जाता है। इसलिये योगी को बार-बार भावना का प्रतिभाग निमित्त को सुदृढ़ कर शीघ्र ही अर्पणा समाधि को प्राप्त कर लेना चाहिये। इसके लिये योगी को उसी आवास में रहना चाहिये जिस आवास में निमित्त उत्पन्न और स्थिर होता है। इसके साथ ही वहीं भिक्षा के लिए जाना चाहिए, जो ग्राम आवास के समीप हो। उसे लौकिक कथाओं से दूर रहना चाहिए क्योंकि लौकिक कथाओं से उत्पन्न निमित्त समाप्त हो सकता है। उसे लौकिक कथाओं को करनेवाले पुरुषों की संगति से भी दूर रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उपयुक्त ईर्यापथ, भोजन एवं ऋतु का सेवन करते हुए योगी जब बार-बार निमित्त का अभ्यास करता रहता है तो उसे अर्पणा समाधि प्राप्त होती है और उसका चित्त प्रथम ध्यान में स्थिर हो जाता है।[1]

अर्पणा समाधि में कुशलता-प्राप्ति के उपाय

यदि विधिपूर्वक योग-साधना करने पर भी अर्पणा-समाधि की प्राप्ति न हो तो योगी को निम्नलिखित दस उपायों से उसे प्राप्त करना चाहिए।[2]

---

1. द्रष्टव्य—अभिध० खंड 2 पृ० 893–899 तथा विसु० खंड 1 पृ० 261–270
2. तत्रायं नयो—दसहाकारेहि अप्पनाकोसल्लं इच्छितब्बं···

(विसु० खंड 1 पृ० 274)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1. वस्तु को स्वच्छ करना

शरीर और उससे सम्बन्धित चीवर आदि को वस्तु कहते हैं। अस्वच्छ वस्तु में उत्पन्न चित्त-चैतसिक ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है और अपरिशुद्ध ज्ञान से समाधि-भावना दुर्बल हो जाती है। फलतः कर्मस्थान की भावना करने पर भी उसमें वृद्धि नहीं होती है और ध्यान-अंगों में चित्त स्थिर नहीं होता है। अतः योगी को अपने शरीर और चीवर आदि को स्वच्छ रखना चाहिये।[1]

2. इन्द्रियों को एक समान करना

योग-साधना में लगे हुए योगी की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—इन पाँच इन्द्रियों[2] को समान बलशाली होना चाहिये। यदि किसी योगी की श्रद्धा अधिक बलवती होती है तो उसकी प्रज्ञा मन्द हो जाती है। फलतः वह बिना विचारे ही श्रद्धा करता है। इसी प्रकार प्रज्ञा बलवती और श्रद्धा मन्द होने पर उसमें शठता जैसी बुराई उत्पन्न हो जाती। यही स्थिति वीर्य और समाधि की है। बलवान् वीर्य एवं मन्द समाधि इन्द्रिय वाले योगी के चित्त में विक्षेप होने लगता है। इसी प्रकार समाधि के प्रबल तथा वीर्य के मन्द होने पर योगी को आलस्य होने लगता है। बिना सोचे-समझे विश्वास करने से, शठता से, विक्षेप या आलस्य से अभिभूत योगी अर्पणा समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता है। स्मृति तो सर्वत्र होना चाहिये। स्मृति के बिना चित्त को नियन्त्रण में रखना सम्भव नहीं है। अतः अर्पणा समाधि के इच्छुक योगी को अपनी सभी इन्द्रियों को समान रूप से बलशाली रखना चाहिये।[3]

3. निमित्त में कुशलता

चित्त की एकाग्रता के लिए निमित्त को करने में, किये हुए निमित्त की भावना करने में तथा भावना से प्राप्त निमित्त की रक्षा करने में निपुणता को निमित्त में कुशलता कहते हैं। योगी का कर्तव्य है कि वह निमित्त को ग्रहण करने के बाद उसका अभ्यास करके प्रतिभाग निमित्त को उत्पन्न करे तथा भविष्य में उसकी रक्षा करता रहे।[4]

4-5. चित्त का उत्थान एवं निग्रह करना

बोधि के सात अंग हैं—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति प्रश्रब्धि, समाधि

1. वही, पृ॰ 274–275
2. पंचिन्द्रियानि-सद्धिन्द्रियं विरियिन्द्रियं (दी॰ नि॰ खण्ड 3 पृ॰ 186)
3. (विसु॰ खंड 1 पृ॰ 276–280)
4. (वही, पृ॰ 280)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा उपेक्षा।[1] इनमें से स्मृति तो सर्वत्र अभीष्ट होती है। शेष छः अंगों में से धर्म-विचय (प्रज्ञा), वीर्य (उत्साह) तथा प्रीति—इन तीन अंगों से चित्त का उत्थान होता है तथा अन्तिम तीन अंगों (प्रश्रब्धि, समाधि एवं उपेक्षा) से चित्त का निग्रह होता है। यदि योगी का चित्त संकुचित हो रहा हो तो उस समय उसे धर्मविचय, वीर्य तथा प्रीति—इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी चाहिये क्योंकि इनसे मन्द अथवा संकुचित चित्त का उत्थान होता है। इसके विपरीत जिस समय योगी का चित्त उद्धत हो रहा हो, उस समय उसका समाधान करने के लिये प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा नामक बोध्यंगों की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार उत्थान करने योग्य चित्त का उत्थान एवं अनवस्थित चित्त का समाधान होता है जिससे अर्पणा-समाधि की प्राप्ति होती है।[2]

6-7. चित्त के सम्प्रहर्षण एवं उसकी उदासीन वृत्ति से

जब योगी के चित्त को प्रज्ञा की मन्दता या उपशम-सुख के अभाव से तृप्ति नहीं होती है तो उस समय योगी को जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अपाय-दुःख आदि आठ संवेगों से संवेग उत्पन्न करना चाहिये तथा बुद्ध, धर्म एवं संघ के गुणों का अनुस्मरण कर चित्त में प्रसार उत्पन्न करना चाहिये।

जब योगी के चित्त का व्यापार मन्द नहीं होता है, उसमें विक्षेप का अभाव होता है. उपशम सुख का लाभ होता है, आलम्वन में चित्त की समवृत्ति होती है और चित्त शमथ के मार्ग पर आरूढ़ होता है तब योगी को चित्त के उत्थान, निग्रह तथा सम्प्रहर्षण में उदासीन वृत्ति का होना चाहिये। इस प्रकार यथासमय चित्त के समप्रहर्षण से तथा यथासमय चित्त की उदासीन वृत्ति से भावना करनी चाहिये।[3]

8-10. इसके अतिरिक्त योगी को बहुधंधी लोगों का परित्याग करना चाहिये अन्यथा वह भी तरह-तरह के विकल्पों से विक्षिप्त हो सकता है और उसका प्रतिभाग निमित्त क्षीण हो सकता है। उसे उन लोगों के सम्पर्क में रहना चाहिये जिन्होंने समाधि को प्राप्त कर लिया हो। कारण, ऐसे लोगों के सम्पर्क से उसे मार्गदर्शन एवं उत्साह मिलता रहेगा। योगी को सदैव समाधि-परायण होना चाहिये। समाधि का अभ्यास करते-करते उसे कुछ उपलब्धि होने पर यदि वह यह सोचकर कि अब तो उसने निमित्त की भावना कर यथेष्ट उपलब्धि प्राप्त कर ली है, वह समाधि से विमुख होता है तो उसकी वे उपलब्धियाँ भी क्षीण हो जाती हैं। अतः योगी को सदैव समाधि-परायण होना चाहिये। इससे उसकी

1. (म० नि०, खंड 1 पृ० 86)
2. (विसु० खंड 1 पृ० 280–289)
3. (वही, पृ० 289–290)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्पणा में सुदृढ़ स्थिति होती है और वह प्रथम ध्यान के बाद द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान का लाभी हो जाता है।[1]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में शमथ-भावना विधि का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने का व्यावहारिक तरीका बताया गया है। अन्धविश्वास या टोना-टोटका को बौद्ध साधना में कोई स्थान नहीं है। इसमें चालीस कर्मस्थानों को प्रमुखता दी गयी है। इन्हीं कर्मस्थानों में से योगी अपनी चर्या के अनुसार कर्मस्थान को ग्रहण कर चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। अभ्यास करने की तैयारी के रूप में योगी को ऐसे कार्यों को करने का निर्देश है जिनके न करने से चित्त भ्रान्त बना रह सकता है।

कर्मस्थान में निमित्त की साधना करने वाला योगी ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब आँख बन्द कर लेने के बाद भी उसे आँख खोलकर देखने जैसा निमित्त दिखाई देने लगता है। इसे उद्ग्रह निमित्त कहा जाता है। यही चित्त की एकाग्रता का प्रारम्भ है। इस स्थिति में योगी अपने निवास में जाकर उसी उद्ग्रह निमित्त की भावना करता है तो उसके पाँच नीवरण दब जाते हैं और चित्त एकाग्र बना रहता है। जब योगी उसी निमित्त की बार-बार भावना करता है तो उसे प्रतिभाग निमित्त की उत्पत्ति होती है। यह प्रतिभाग निमित्त उद्ग्रह निमित्त से कई गुना परिशुद्ध होता है और चित्त की एकाग्रता का आधार होता है। इस स्थिति में योगी का चित्त पाँच अंगों से युक्त प्रथम ध्यान की ओर जाता है। चूँकि इस स्थिति में प्रादुर्भूत ध्यान के अंग सबल नहीं होते हैं अतः वह प्रथम ध्यान में अस्थिर रहता है। योगी की इस स्थिति को उपचार समाधि कहते हैं।

तत्पश्चात् योगी प्रतिभाग निमित्त का बार-बार चिन्तन करता है जिससे उसका विस्तार होता है और ध्यान के अङ्ग सबल हो जाते हैं। इस स्थिति में योगी प्रथम ध्यान में स्थिर हो जाता है। इसी को अर्पणा समाधि कहते हैं।

चूँकि चित्त की एकाग्रता की यह स्थिति कामच्छन्द, व्यापादन, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य तथा विचिकित्सा नामक पाँच नीवरणों (विघ्नों) के शमन से उत्पन्न होती है। अतः इसे शमथ कहा गया है। इस शमथ के विकास को करने की विधि ही शमथ-भावना-विधि में निरूपित की गयी है।

शमथ-भावना से योगी चार रूपध्यान और चार अरूपध्यान नामक आठ समापत्तियों को प्राप्त करता है। चतुर्थ रूपध्यान के पूर्णतः परिपक्व हो जाने पर कुछ मानसिक शक्तियों का भी उदय होता है—इन सबका विवरण शमथ-भावना की उपलब्धियाँ नामक अगले अध्याय में दिया गया है।

1. (वही, पृ० 290)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाँचवा अध्याय

शमथ-भावना की उपलब्धियाँ

जब योगी शमथ-भावना में परिपक्व हो जाता है तो उसके चित्त से समाधि-विरोधी पाँच नीवरण हट जाते हैं। योगी को नीवरणों के हटने पर वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है जैसा कि ऋणी व्यक्ति को ऋण से मुक्त होने पर, रोगी व्यक्ति को रोग-समाप्त हो जाने पर, बन्दी व्यक्ति को कारागार से छूटने पर, दास को दासता से मुक्त होने पर तथा भयाकीर्ण मरूभूमि में भटके व्यक्ति को सुरक्षित स्थान पर पहुँचने पर होता है।[1]

उसके वाद योगी जब आगे भावना करता है तो उसे समाधि-विषयक आठ समापत्तियों तथा ऋद्धिविध आदि पाँच अभिज्ञाओं की उपलब्धि होती है। अतः इस अध्याय में आठ समापत्तियाँ और पाँच अभिज्ञाएँ विवेचनीय हैं।

आठ समापत्तियाँ

सम्यग् रूप से प्राप्ति को समापत्ति कहते हैं।[2] जब योगी नीवरणों के के शान्त होने पर अपने चित्त को ध्यान में लगाता है तो उसे चार रूप-ध्यान तथा चार अरूप-ध्यान प्राप्त होते हैं। रूप-ध्यान में उन ध्यानों का समावेश किया जाता है जिनमें रूप आलम्बन के रूप में होता है। जब रूप का अतिक्रम करते हुए योगी अरूप को अपने ध्यान का विषय बनाता है तो उसका चित्त चार अरूप-ध्यान को प्राप्त करता है। रूप-ध्यानों में ध्यान का विषय एक ही रहता है किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने से प्राप्त चार अवस्थाओं के कारण उसे चार भागों में विभक्त किया जाता है।[3] अरूप-ध्यान में आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चार अरूपविषयक ध्यानों को संगृहीत किया जाता है। इनके विषय क्रमशः आकाश, विज्ञान अभाव तथा अभाव का अभाव होता है।[4]

---

1. सेय्यथापि, महाराज, यथा आनण्यं यथा आरोग्यं यथा बन्धनामोक्खं यथा भुजिस्सं यथा खेमन्तभूमिं; एवमेव खो, महाराज, भिक्खु इमे पञ्च नीवरणे पहीने अत्तनि समनुपस्सति। (दी० नि०, खण्ड 1 पृ० 64-65)
2. (पालि-इंग्लिश डिक्शनरी पृ० 686)
3. (म० नि० खंड 3 पृ० 88-89)
4. (बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 97-98)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त कथन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि शमथ-भावना को करता हुआ योगी जब अपने प्रतिभाग निमित्त को सुदृढ़ कर लेता है तो वह प्रथम ध्यान की ओर प्रवृत्त होता है। प्रथम ध्यान को सुदृढ़ कर लेने के बाद जब वह द्वितीय ध्यान की प्राप्ति के लिए पुनः भावना करता है तब उसे द्वितीय ध्यान की उपलब्धि होती है। इस प्रकार आठ समापत्तियों की प्राप्ति एक साथ न होकर क्रमिक ढंग से होती है। प्रत्येक समापत्ति अपने से पहले की समापत्ति से अपेक्षाकृत अधिक प्रणीत होती है। अतः योगी वर्तमान समापत्ति में विद्यमान दोष से असन्तुष्ट होकर अग्रिम समापत्ति की प्राप्ति की अभिलाषा तथा भावना करता है।

भावना का प्रत्येक समापत्ति की प्राप्ति में महत्वपूर्ण स्थान होता है। जो श्रेष्ठ एवं कुशल धर्मों का उत्पाद एवं उसमें अभिवृद्धि करती है, उसे भावना कहते हैं। जब किसी श्रेष्ठ धर्म की अभिलाषा से उसकी भावना की जाती है तो उससे कुशल धर्म का उत्पाद होता है। उत्पत्ति के अनन्तर पुनः-पुनः उस धर्म की भावना से वह धर्म दृढ़ता एवं अभिवृद्धि को प्राप्त होता है।[1]

प्रभेद की दृष्टि से भावना तीन प्रकार की होती है परिकर्म भावना, उपचार भावना तथा अर्पणा भावना।[2] समापत्ति को प्राप्त करने के लिये योगी द्वारा की जाने वाली प्रारम्भिक भावना को परिकर्म भावना कहते हैं। जब उसी भावना को बार-बार किया जाता है तो उसे समापत्ति की उपलब्धि तो होती है किन्तु वह अधिक समय तक टिकने वाली नहीं होती है। अतः उसे उपचार भावना कहते हैं। जब योगी पुनः पुनः उस समापत्ति की भावना करता है तब उस योगी की स्थिति उस समापत्ति में सुदृढ़ हो जाती है इसे अर्पणा भावना कहते हैं। भावना की उक्त भूमिका को ध्यान में रखते हुए यहाँ आठ समापत्तियों का विवेचन किया जा रहा है।

प्रथम ध्यान—जब योगी अपने चित्त को इन्द्रियों और बोध्यंगों के समप्रयोग द्वारा प्रतिभाग निमित्त में स्थिर कर लेता है तब उसे आलम्बन में चार या पाँच चेतनाएँ उत्पन्न होती हैं। इनमें अन्तिम रूपावचर भूमि की होती है शेष काम धातु से सम्बन्धित रहती हैं। इन्हीं शेष काम धातु से सम्बन्धित चेतनाओं में जो वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता होते हैं, वही प्रथम

1. अधिकुसलं भावेती ति जनेति उप्पादेति वड्ढेति। अयं ताव इध भावनाय अत्थो। (अट्ठ०, पृ० 133)

2. परिकम्मभावना उपचार भावना अप्पनाभावना चेति तिस्सो भावना। (अभिध०, खंड 2 पृ० 862)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान-रूप पहली समापत्ति की उपलब्धि में प्रारम्भिक कारण बनते हैं।[1] जब योगी पुनः-पुनः इन पाँच अंगों की भावना करता है तो वे अंग सुदृढ़ हो जाते हैं। इसी अवस्था में योगी को प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है।[2] इसीलिये कहा गया है कि योगी कामों से अलग होने के पश्चात् ही अकुशल धर्मों से रहित होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त करके विहरता है।[3] यहाँ 'ही' शब्द से यह अभिव्यक्त होता है कि काम के परित्याग से ही प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है।[4] काम के परित्याग के साथ अकुशल धर्मों से अलग होना भी आवश्यक है। यहाँ अकुशल धर्मों से शेष चार नीवरण अभिप्रेत हैं।[5]

प्रस्तुत प्रसंग में 'काम' शब्द वस्तुकाम अभिप्रेत है। जो वस्तु काम को भड़काये, उसे वस्तुकाम कहते हैं तथा वस्तु की अभिलाषा करना, उसमें राग या लोभ होना क्लेशकाम है। इस प्रकार जो प्रिय तथा मनोरम रूप हैं उन्हें वस्तुकाम तथा उसमें आसक्ति को क्लेशकाम कहा जायेगा। योगी वस्तुकाम के परित्याग से राग उत्पन्न करनेवाले विषयों को अलग करता है और क्लेश-काम से तज्जन्य मानसिक विकृतियों को दूर करता है। वस्तुकाम के परित्याग से काम-सुख से अलग होता है जबकि क्लेशकाम के परित्याग से उसका चित्त ध्यान की ओर लगता है।[6]

यद्यपि अकुशल धर्म अनेक हैं किन्तु यहाँ 'अकुशल धर्म' से उन्हीं धर्मों का ग्रहण किया गया है को ध्यान के अंगों के विरोधी हैं। उदाहरणस्वरूप काम-च्छन्द समाधि रूप एकाग्रता का विरोधी है, व्यापाद प्रीति का विरोधी है, स्त्यानमृद्ध

---

1. पकतिचित्तेही ति पाकतिकेहि कामावचरचित्तेहि चित्तेकग्गतानि भावनावलेन पटुतरसभावप्पत्तिया। (विसु० (परम०) खंड 1 पृ० 294–295)
2. ततो तस्मि येवारम्भणे चत्तारि वा पञ्च वा जवनानि जवन्ति···
(विसु० खंड 1 पृ० 214—215)
3. सो विविच्चेव कामेहि, विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं बिवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। (दी० नि० खंड 1 प० 65)
4. यो पनायमेत्थ एव कारो, सो नियमत्थो ति वेदितब्बो · तस्स पठमज्झानस्स पटि-पक्खभावं कामपरिच्चागेनेव चस्स अधिगमं दीपेति। (विसु खंड 1 पृ० 298)
5. ···पठमेन कामच्छन्दस्स, दुतियेन सेसनीवरणानं। (वही, पृ० 302)
6. कतमे वत्थुकामा ? मनापिया रूपा ति। · पुरिमेन चेत्थ वत्थुकामेहि विवेकवचनतो एव कामसुखपरिच्चागो दुतियेन···नेक्खम्मसुखपरिग्गहो विभावितो होति।
(वही, पृ० 299–300)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आलस्य तथा अकर्मण्यता) वितर्क का विरोधी है, औद्धत्य-कौकृत्य सुख का विरोधी है और विचिकित्सा (संशय) विचार का विरोधी है। अतः काम से अलग रहने से एकाग्रता तथा शेष नीवरणों से अलग होने से वितर्क, विचार, प्रीति और सुख-रूप अंगों का प्रादुर्भाव होता है। चूंकि ध्यान में यही पाँच नीवरण विघ्न उत्पन्न करते हैं, अतः ये प्रथम ध्यान के प्रहाण-अंग हैं।[1]

इसी प्रकार वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता प्रथम ध्यान के अंग हैं। आलम्बन के सम्बन्ध में कल्पना विशेष करना वितर्क है। यही वितर्क चित्त को आलम्बन के पास ले जाता है। आलम्बन में वितर्क पहले जाता है, विचार उसके बाद में। वितर्क की क्षणिक प्रवृत्ति होती है और विचार की अविच्छिन्न। इसकी उपमा घण्टे के शब्द और उसके अनुरव से दी जाती है। घण्टे से होने वाले शब्द के समान वितर्क होता है और शब्द के अनुरव के समान विचार होता है।[2]

उसके बाद चित्त को परितोष प्रदान करनेवाली प्रीति होती है। प्रीति पाँच प्रकार की होती है—क्षुद्रिका, क्षणिका, अवक्रान्तिका, उद्वेगा तथा स्फरणा। क्षुद्रिका प्रीति से रोमाञ्च होता है, क्षणिका विद्युत्पात के समान क्षण-क्षण में होती है, समुद्र-तट से टकराकर शान्त हो जाने के समान शरीर को अवक्रान्त कर समाप्त होने वाली प्रीति अवक्रान्तिका प्रीति होती है, शरीर को उठाकर आकाश को लंघाने वाली उद्वेगा प्रीति होती है तथा बाढ़ के पानी की तरह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त स्फरणा प्रीति होती है।[3]

जब प्रीति स्थिर और परिपक्व हो जाती है तो काम एवं चित्त की प्रश्रब्धि (शान्ति) उत्पन्न होती है और उस प्रश्रब्धि के परिपाक से कायिक

---

1. तत्थ कामच्छन्दो, व्यापादो, थिनमिद्धं उद्धच्चकुकुच्चं विचिकिच्छा ति इमेसं पञ्चन्नं नीवरणानं पहानवसेन·· ज्ञानं उप्पज्जति। तेनस्सेतानि पहानंगानी ति वुच्चन्ति।
(विसु० खण्ड 1 पृ० 310–311)

2. तत्थ वितक्कनं वितक्को···आरम्भणे चित्तस्स आनयनपच्चुपट्ठानो···ओलारिकट्ठेन पुब्बंगमट्ठेन च घण्टाभिघातो विय वितक्को···घण्डानुरवो विय अनुप्पबन्धो विचारो··· (वही, 303–304)
तुलना कीजिये—
वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः।
(पात० योगदर्शन 1.17 का भाष्य०)

3. पीणयती ति पीति···सा पनेसा खुद्दिका पीति, खणिका पीति···पञ्चविधा होति।
(विसु० खण्ड 1, पृ० 306)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं चैतसिक सुख उत्पन्न होता है। यह सुख ही स्थिर और परिपक्व होकर समाधि की उत्पत्ति करता है।

इस प्रकार वितर्क चित्त को आलम्बन के पास ले जाता है, विचार चित्त को आलम्वन में लगातार प्रवृत्त कराता है, प्रीति चित्त को परितोष देती है, सुख चित्त में वृद्धि करता है और एकाग्रता चित्त को आलम्बन में सम्यक् और सम रूप से प्रतिष्ठित करती है।[1]

पाँच ध्यानांगों के प्रादुर्भाव से ही योगी प्रथम ध्यान का लाभ करता है। प्रारम्भ में ये ध्यान-अंग निर्बल होते हैं किन्तु पुनः पुनः भावना करने पर वे (अंग) सुदृढ़ हो जाते हैं। प्रथम ध्यान की प्राप्ति के बाद योगी को यह निश्चित करना चाहिये कि किस प्रकार के आवास में रहकर किस प्रकार का भोजन कर और किस प्रकार के ईर्यापथ से उसे प्रथम ध्यान प्राप्त हुआ है। कारण, यदि कदाचित् उसका ध्यान नष्ट होता है तो वह पुनः उसी प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त कर पुनः प्रथम ध्यान को प्राप्त कर सकता है।[2]

जब तक योगी के ये पाँच ध्यान-अंग सुदृढ़ नहीं होते हैं तब तक उसे दूसरे ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। यदि कदाचित् योगी प्रथम ध्यान पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किये बिना ही दूसरे ध्यान की ओर प्रवृत्त होता है तो उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के योगी को द्वितीय ध्यान की प्राप्ति न होकर प्रथम ध्यान से च्युत होने की ही सम्भावना रहती है। इसीलिए उसे वशिताओं द्वारा सर्वप्रथम प्रथम ध्यान पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहिये।

वशिताएँ

वश सामर्थ्य को कहते हैं और वशी सामर्थ्यसम्पन्न योगी को। इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए वशिता का अभिप्राय है— सामर्थ्यसम्पन्न योगी का भाव। वशिता पाँच प्रकार की होती है - आवर्जन, समावर्जन, अधिष्ठान, व्युत्थान तथा प्रत्यवेक्षण।[3]

---

1. वही, पृ० 308.
2. एवमधिगते पन एतस्मिं तेन योगिना ··आकारा परिग्गहेतव्बा ··एवं हि सो नट्ठे वा तस्मिं ते आकारे सम्पादेत्वा पुन उप्पादेतुं सक्खिस्सति।
(वही, पृ० 320–321)
3. पञ्च वसियो। आवज्जनवसी, समापज्जनवसी, अधिट्ठानवसी वुट्ठानवसी पच्चवेक्खणवसी।
(पटि० पृ० 112)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवर्जन—निश्चित देश तथा काल में प्रथम ध्यान के प्रत्येक अंग को निश्चित समय के लिए यथारूचि प्रवृत्त करने की सामर्थ्य को आवर्जन वशिता कहते हैं। आवर्जन वशिता के सिद्ध हो जाने पर योगी प्रथम ध्यान के किसी भी अंग पर जब चाहे जहाँ चाहे और जितनी देर चाहे, तब वहाँ उतनी देर चित्त स्थिर कर सकता है।[1] आवर्जन वशिता को प्राप्त करने के लिये योगी को पहले ध्यान के अंगों का क्रम से आवर्जन करना होता है। सबसे पहले योगी वितर्क का आवर्जन करता है। इस आवर्जन से भवांग (स्वाभाविक) चित्त[2] भङ्ग हो जाता है। तत्पश्चात् चार या पाँच चेतनायें उत्पन्न होती हैं। उसके बाद दो क्षण के लिये भवांग चित्त में आ जाता है। तदनन्तर विचार का आलम्बन करके चार-पाँच चेतनायें उत्पन्न करता है। पुनः भवांग में आकर प्रीति को आलम्बन बनाता है। इसी क्रम से वह एकाग्रता तक पहुँचता है। इस प्रकार ध्यान के अंगों में चित्त को निरन्तर लगाने की क्षमता आ जाती है।[3]

समावर्जन वशिता—जब योगी ध्यान प्राप्त करके विहार करने की इच्छा होने पर अधिक भवांग उत्पन्न न होने देकर भवंग चलन, भवंगोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू को ही उत्पन्न करके यथारूचि ध्यान चित्तों के उत्पाद में सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है उस सामर्थ्य के भाव को समावर्जन वशिता कहते हैं।[4]

1. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं यदिच्छकं यावतिच्छकं आवज्जति, आवज्जनाय दन्धायितत्तं नत्थी ति आवज्जनवसी। (वही, पृ० 112-113)
2. स्वाभाविक मन को ही भवांग-चित्त कहते हैं। चूंकि यह जीवन-प्रवाह को अटूट बनाकर रखने से भव का अंग होता है, अतः आलम्बन-रहित परिशुद्ध चित्त को भवांग कहा जाता है। इसके विषय में कहा गया है कि यह प्रभा-भास्वर है। वस्तुतः भवांग चित्त स्वभाव से ही परिशुद्ध है किन्तु वह जवन के क्षण उत्पन्न कुशल अकुशल चित्तों से कुशल या अकुशल होता है। जब मनुष्य गहन निद्रा में होता है तथा स्वप्न आदि नहीं देखता है अथवा वह वितर्क-विचार से रहित होता है उस समय उसके चित्त को भवांग चित्त कह सकते हैं।

   (देखिये विशुद्धिमार्ग खण्ड 1 पृ० 23 की पाद टिप्पणी संख्या 1 तथा अभिध० खण्ड 1 पृ० 225–226)
3. पठमज्झानतो वुट्ठाय पठमं वितक्कं आवज्जयतो भवंग उपच्छिन्दित्वा···चत्तारि वा पञ्च वा जवनानि जवन्ति···एवं पञ्चसु ज्ञानगेसु यदा निरन्तरं चित्तं पेसेतुं सक्कोति, अथस्स आवज्जनवसी सिद्धा होति।

   (विसु० खंड 1 पृ० 328, द्रष्टव्य—अभिध० खण्ड 2 पृ० 901)
4. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं यदिच्छकं यावतिच्छकं समापज्जति, समापज्जनाय दन्धायितत्तं नत्थी समापज्जनवसी। (पटि० पृ० 113)

   द्रष्टव्य—विसु० खण्ड 1, पृ० 328–329 तथा अभिध० खण्ड 2, पृ० 901।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिष्ठान वशिता—भवांगपात को रोक कर चित्त को ध्यान-सन्तति में प्रतिष्ठित करने की सामर्थ्य को अधिष्ठान वशिता कहते हैं। इस वशिता में भवांग का अभिभव होता है और ध्यान-सन्तति की प्रतिष्ठा। जब ध्यान-सन्तति समाप्त होती है तो भवांग-चित्त का उत्पाद होता है। साधक जिस क्षण ध्यान के प्रवाह में रहना चाहता है उस क्षण भवांग चित्त की उत्पत्ति को रोक कर ध्यान में ही रहता है। इसी स्थिति की सामर्थ्य के भाव को अधिष्ठान वशिता कहते हैं।[1]

व्युत्थान वशिता—जब योगी ध्यान समाप्त करता है तो उसका भवांग-चित्त उत्पन्न हो जाता है। निश्चित काल पर ध्यान से उठने की सामर्थ्य को ही व्युत्थान वशिता कहते हैं।[2] निश्चित समय तक ध्यान के प्रवाह को बनाये रखने तथा चित्त को भवांग-प्रपात से बचाने के सामर्थ्य को अधिष्ठान वशिता कहते हैं। इसके विपरीत यथासमय ध्यान से उठने के सामर्थ्य को व्युत्थान वशिता कहते हैं।

प्रत्यवेक्षण वशिता—ध्यानांगों के प्रत्यवेक्षण के वशीभाव को प्रत्यवेक्षण वशिता कहते हैं। ध्यानांगों का आवर्जन करते समय दो अंगों के आवर्जन के अन्तराल में अनेक भवांग चित्तों का उत्पाद हो सकता है। जब योगी इन भवांग चित्तों की उत्पत्ति को अवसर न देकर ध्यानांगों के पुनः पुनः आवर्जन करने की क्षमता को प्राप्त करता है तो उस सामर्थ्य को ही प्रत्यवेक्षण वशिता कहते हैं।[3]

उक्त पांच वशिताओं के प्राप्त हो जाने पर योगी ध्यान के पांच अंगों की स्थिति सुदृढ़ कर लेता है और उसके प्रथम ध्यान के नष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती है। वह अपने शरीर को विवेकजन्य प्रीति सुख से ओत-प्रोत कर लेता है। शरीर का ऐसा कोई भी भाग अवशिष्ट नहीं रहता है जो विवेक-जन्य प्रीति सुख से अछूता हो। जिस प्रकार कोई दक्ष पुरुष स्नानचूर्ण को थाली में डालकर उसमें पानी का सिंचन कर उसे पिण्ड रूप में कर लेता है। वह पिण्डाकार स्नानचूर्ण उदक से ओतप्रोत रहता है किन्तु उससे उदक का रिसाव नहीं होता

---

1. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं···अधिट्ठाति, अधिट्ठाने दन्धायितत्तं नत्थीति अधिट्ठानवसी। (पटि० पृ० 113)
2. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं··वुट्ठाति, वुट्ठाने दन्धायितत्तं नत्थीति वुट्ठानवसी। (पटि० पृ० 113)
3. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं···पच्चवेक्खति, पच्चवेक्खणाय दन्धायितत्तं नत्थी ति पच्चवेक्खणवसी। (वही,)
द्रष्टव्य—अभिध० खण्ड 2, पृ० 902।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ठीक उसी प्रकार योगी का समस्त शरीर विवेकजन्य प्रीति सुख से ओत-प्रोत हो जाता है।[1]

द्वितीय ध्यान—जब योगी पांच प्रकार की वशिताओं द्वारा प्रथम ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है, तब वह प्रथम ध्यान से उठकर विचारता है कि प्रथम ध्यान में वितर्क एवं विचार जैसे स्थूल अंग होने से वह दोषपूर्ण है। वितर्क एवं विचार दोनों ही आपत्तिजनक हैं क्योंकि ये लौकिक आलम्बनों में भी चित्त को प्रवृत्त करा सकते हैं। इसके विपरीत वितर्क एवं विचार से रहित ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त एवं प्रणीत होता है। इस प्रकार वितर्क एवं विचार में नाना आपत्तियों को देखकर योगी द्वितीय ध्यान को प्राप्त करने के लिये अपने पूर्व (पृथ्वी) निमित्त को ही आलम्बन बनाकर भावना करता है।[2] इस भावना को करते हुए जब तक वितर्क एवं विचार शान्त नहीं हो जाते हैं तब तक की भावना को परिकर्म भावना कहते हैं। जब वितर्क एवं विचार शान्त हो जाते हैं तब वह भावना उपचार भावना कहलाती है। इसके आगे पुनः पुनः भावना करने पर जब वह वितर्क एवं विचार-रहित तीन ध्यान-अंगों से सम्पन्न द्वितीय ध्यान को उत्पन्न कर लेता है तो उसकी यह भावना अर्पणा भावना कही जाती है।[3]

इस प्रकार योगी वितर्क और विचार के शान्त हो जाने से भीतरी प्रसन्नता एवं चित्त की एकाग्रता से युक्त किन्तु वितर्क और विचार से रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त करके विहार करता है। ऐसे योगी की उपमा उस गम्भीर, शान्त एवं पानी के भीतरी स्रोतों वाले तालाब से दी जाती है जिसमें बाहरी किसी स्रोत से पानी न आता हो तथा जिसका जल लहर और तरंग से मुक्त शान्त हो।[4]

---

1. सेय्यथापि, महाराज, दक्खो न्हापको कंसथाले न्हानीयचुण्णानि आकिरित्वा उदकेन परिप्फोटकं···सन्नेय्य ··सन्तरबाहिरा फुटा स्नेहेन न च पग्घरणी · भिक्खु इममेव कायं विवेकजेन पीति–सुखेन अभिसन्देति···नास्स किंचि·· अप्फुटं होति। (दी० नि० खण्ड 1 पृ० 65)
2. इमासु पन पञ्चसु वसीसु चिण्णवसिना पगुणपठमज्झानतो वुट्ठाय 'अयं समापत्ति आसन्न नीवरणपच्चत्थिका, वितक्कविचारानं ओलारिकत्ता अंग दुब्बला ति च तत्थ दोसं दिस्वा दुतियं झानं सन्ततो मनसिकत्वा पठमज्झाने निकन्ति परियादाय दुतियाधिगभाग योगो कातब्बो। (विसु० खण्ड 1 पृ० 330)
3. अभिध० (टीका) खण्ड 2 पृ० 903।
4. ···भिक्खु वितक्कविचारानं वपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति···सेय्यथापि, महाराज, उदकरहदो गम्भीरो···अनुप्पवेच्छेय्य। अथ खो तम्हा व उदकरहदा सीता वारिधारा उब्भिज्जित्वा तमेव उदकरहदं सीतेन वारिना अभिसन्देय्य··। (दी.नि.खण्ड 1,पृ.65-66)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय ध्यान के उक्त लक्षण से यह स्पष्ट है कि इस ध्यान में केवल प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—ये तीन अंग ही होते हैं। प्रथम ध्यान में वितर्क एवं विचार होने से वह क्षुब्ध और समाकुल होता है किन्तु द्वितीय ध्यान में वितर्क-विचार का उच्छेद हो जाने के कारण वह शान्त होता है। यद्यपि प्रथम ध्यान में श्रद्धा रहती है किन्तु वितर्क-विचार के साथ होने से वह निर्बल रहती है। द्वितीय ध्यान में वही श्रद्धा बलवती हो जाती है। इससे योगी का चित्त सुप्रसन्न रहता है। यही सुप्रसन्नता (सम्प्रसाद) इस ध्यान का परिष्कार है। वितर्क एवं विचारपूर्वक न होने के कारण द्वितीय ध्यान पहले ध्यान की अपेक्षा अग्र और श्रेष्ठ होता है तथा समाधि में वृद्धि करता है। अकेला (बिना वितर्क-विचार के) उत्पन्न होने के कारण उसे एकोदि कहा जाता है और उसकी भावना करने को एकोदिभाव कहा गया है। चूंकि यह एकोदिभाव चित्त का होता है, अतः इसे चित्त का एकोदिभाव कहा गया है।[1]

प्रथम ध्यान की भाँति द्वितीय ध्यान पर भी योगी पांच वशिताओं द्वारा आधिपत्य स्थापित करता है।

तृतीय ध्यान—पांच वशिताओं द्वारा द्वितीय ध्यान में अभ्यस्त योगी जब द्वितीय ध्यान से उठकर उसके विषय में विचारता है तो उसे प्रीति से युक्त होने के कारण द्वितीय ध्यान भी दोषयुक्त प्रतीत होता है। उसे समझ में आता है कि प्रीति से चित्त हर्षोत्फुल्ल होता है अतः वह स्थूल स्वभाव वाली है। इसलिये प्रीति से मुक्त द्वितीय ध्यान भी त्याज्य है। इस प्रकार विचार कर वह सुख तथा एकाग्रता—इन दो अंगों वाले तृतीय ध्यान के लिये प्रयत्नशील होता है। वह प्रीति रूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिये तथा तृतीय ध्यान की प्राप्ति के लिये पुनः उसी पूर्व (पृथ्वी) निमित्त को आलम्बन बनाकर भावना करता है।[2] इस प्रकार की भावना को करते हुए प्रीति के अतिक्रमण के पूर्व तक की गयी भावना को परिकर्म भावना कहते हैं। प्रीति की अतिक्रमण वाली भावना को उपचार भावना तथा दो अंगों वाले तृतीय ध्यान को उत्पन्न करने वाली भावना को अर्पणा भावना कहते हैं।

---

1. ···इमस्मिं पन झाने वितक्कविचारपलिबोधाभावेन लद्धोकासा बलवती सद्धा, बलवसद्धासहायपटिलाभेनेव च समाधि पि पाकटो। (विसु० खण्ड 1, पृ० 334)
 द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म—दर्शन, पृ० 71–72

2. अयं समापत्ति आसन्नवितक्कविचारपच्चत्थिका यदेव तत्थ पीतिगतं चेतसो उप्पिलावितं एतेनेतं ओलारिकं अक्खायती ति···तदेव निमित्तं 'पथवी पथवी' ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो ··ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरति। (विसु० खण्ड 1, पृ० 337–338)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय ध्यान के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि योगी प्रीति एवं विराग से भी उपेक्षायुक्त होकर स्मृति एवं संप्रजन्य को ही महत्व देता है। वह शरीर से आर्यों के द्वारा कहे गये सभी सुखों का अनुभव करते हुए उपेक्षा के साथ स्मृतिमान् और सुख विहार वाले तीसरे ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता है।[1]

तृतीय ध्यान से सम्पन्न योगी की उपमा उस नील, रक्त या श्वेत कमल से दी गयी है जो जल ही में उत्पन्न होता है, जल में ही बढ़ता है ओर जड़ से चोटी तक जल से ही व्याप्त रहता है। तृतीय ध्यान से सम्पन्न योगी भी प्रीति-रहित सुख से ओतप्रोत रहता है।[2]

तृतीय ध्यान से सम्पन्न योगी उपेक्षा, स्मृति तथा संप्रजन्य से युक्त होता है। प्रीति के अतिक्रमण एवं वितर्क और विचार के शान्त हो जाने से वह उपेक्षा से युक्त हो जाता है। यह उपेक्षा षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यनोपेक्षा, तत्र-मध्यत्वोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा तथा पारिशुद्ध्युपेक्षा के भेद से दस प्रकार की होती है। यद्यपि प्रथम और द्वितीय ध्यान में भी उपेक्षा रहती है किन्तु वहां वितर्क, विचार तथा प्रीति-रूप अंगों से अभिभूत होने के कारण उसका कार्य अव्यक्त रहता है। तृतीय ध्यान में उक्त तीनों अंगों के अभाव में उपेक्षा का कार्य सुस्पष्ट हो जाता है। तृतीय ध्यान में योगी स्मृति एवं सावधानी से युक्त इसलिये होता है क्योंकि उनके बिना सुख को प्रीति से दूषित होने की सम्भावना रहती है। इसीलिये योगी को चित्त की गति के ऊपर सतर्क और जागरूक रहना होता है।[3] योगी तृतीय ध्यान में चैतसिक एवं कायिक सुख को प्राप्त करता है। प्रीति को पुनः उत्पन्न न होने देने के लिये तृतीय ध्यान पर भी योगी को पांच वशिताओं द्वारा पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लेना आवश्यक है।

---

1. पुन च परं, महाराज. भिक्खु पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो सम्पजानो, सुखं च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति––उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति ततियं ज्ञानं उपसम्पज्ज विहरति।
(दी॰ नि॰ खण्ड 1, पृ॰ 66)

2. वही,

3. ···इदं सतिसम्पजञ्ञं पुरिमज्झानेसु पि अत्थि। मुट्ठसतिस्स हि असम्पजानस्स उपचारमत्तं न सम्पज्जति · अब्यत्तं तत्थ सतिसम्पजञ्ञं किच्चं···एवमिदं ततियज्झानसुखं पीतितो अपनीतं, तं सतिसम्पजञ्ञारक्खेन अरक्खियमानं पुनदेव पीतिं उपगच्छेयय···
(विसु॰ खण्ड 1, पृ॰ 345)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ ध्यान—पांच वशिताओं द्वारा तृतीय ध्यान में अभ्यस्त योगी जब तृतीय ध्यान से उठकर उसके विषय में विचारता है तो उसे तृतीय ध्यान भी दोषयुक्त दिखायी देता है। कारण, इसका सुख स्थूल है और इसलिये इसके अंग दुर्बल हैं। उसे चतुर्थ ध्यान अधिक शान्त और प्रणीत प्रतीत होता है। क्योंकि इस चतुर्थ ध्यान में न सुख और न ही दुःख होता है। सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से न दुःख न सुख वाला यह ध्यान स्मृति एवं उपेक्षा से शुद्ध होता है। योगी चतुर्थ ध्यान के चित्त से शरीर को निर्मल बनाता है उसके शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं बचता जो शुद्ध और निर्मल न हो।[1]

इस प्रकार चतुर्थ ध्यान की विशेषता को समझकर योगी पुनः उसी (पृथ्वी) निमित्त को आलम्बन बनाकर चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति के लिये भावना करता है। इस प्रकार की भावना को पुनः पुनः करता हुआ योगी चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति तक परिकर्म भावना, उपचार भावना एवं अर्पणा भावना का अभ्यास करता है।

चतुर्थ ध्यान के दो अंग होते हैं—उपेक्षा-वेदना तथा एकाग्रता। उपेक्षा-वेदना दुःख और सुख से रहित अति सूक्ष्म एवं कठिनाई से समझी जा सकने वाली वेदना होती है। यह न तो कायिक सुख है और न ही कायिक दुःख। इसी प्रकार यह न तो चैतसिक सुख है और न ही चैतसिक दुःख। यह सुख, दुःख, सौमनस्य एवं दौर्मनस्य का अभाव मात्र भी नहीं है। यह एक ऐसी वेदना है जिसे सुख-दुःख के प्रहाण से ही प्राप्त किया जा सकता है। जब सुख-दुःख का प्रहाण हो जाता है तो राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं। इस ध्यान में स्मृति पूर्ण रूप से शुद्ध रहती है। कारण, उपेक्षा से वह दूषित नहीं हो पाती है। इसीलिये रागद्वेष-विहीन उपेक्षा ही स्मृति की परिशुद्धि में प्रधान कारण होती है। यद्यपि पहले तीन ध्यानों में भी उपेक्षा रहती है किन्तु वह वितर्क, विचार, प्रीति तथा सुख से युक्त होने से अपरिशुद्ध रहती है। उपेक्षा के अपरिशुद्ध होने से स्मृति भी अपरिशुद्ध रहती है। चतुर्थ ध्यान में वितर्क आदि के शान्त होने से तथा उपेक्षा-वेदना के होने से उपेक्षा अत्यन्त परिशुद्ध होती है और उपेक्षा की परिशुद्धि से स्मृति आदि भी परिशुद्ध हो जाते हैं।[2]

कहीं-कहीं ध्यान-पंचक का उल्लेख मिलता है। ध्यान पञ्चक में पाँच ध्यानों का अस्तित्व माना गया है। यहाँ द्वितीय ध्यान में केवल वितर्क समाप्त

---

1. ···भिक्खु सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना, पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसपज्ज विहरति।···

(दी॰ नि॰ खण्ड 1, पृ॰ 67)

2. द्रष्टव्य—विसु॰ खण्ड 1, पृ॰ 349–355 तथा बौद्ध धर्म-दर्शन पृ॰ 74–75।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है तथा तृतीय ध्यान में विचार का परित्याग किया जाता है। इस प्रकार ध्यान चतुष्क का द्वितीय-ध्यान ध्यान-पञ्चक में दो ध्यानों में विभक्त हो जाता है। शेष अन्य विशेषताएँ दोनों ही समान हैं।[1]

चार अरूप-ध्यान

आठ समापत्तियों में चार रूप-ध्यानों के बाद चार अरूप-ध्यानों की गणना की जाती है। रूप-ध्यानों में योगी एक ही निमित्त को आलम्बन के रूप में स्वीकार कर उसी के सहारे ध्यान की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था को प्राप्त करता है। जबकि अरूप-ध्यानों में योगी ध्यान के आलम्बनों को वदलते हुए ध्यान की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था को प्राप्त करता है। चार रूप-ध्यानों की प्राप्ति होने के पश्चात् ही चार अरूप-ध्यानों की प्राप्ति होती है।

जब योगी करज (शुक्र-शोणित से उत्पन्न) काय में तथा इन्द्रिय और उनके विषयों में अनेक प्रकार के दोष देखता है तो रूप-ध्यान के आलम्बनभूत पृथ्वी कसिण रूप में भी घृणा करने लगता है। परिणामस्वरुप वह कसिण रूप का अतिक्रमण कर रूप-विमुक्त अरुप-ध्यान की भावना करता है। जिस प्रकार कोई पुरुष सर्प से भयभीत होकर सर्प के समान दिखने वाली रस्सी से भी भय खाता है अथवा जिस प्रकार पिशाच से डरने वाला पुरुष पिशाच के समान दिखने वाले स्थाणु से भी डरता है, उसी प्रकार करज रूप से भयभीत योगी कसिण रुप से भी भय खाने लगता है।[2]

अरुप-ध्यान में योगी क्रमशः आकाशविज्ञान, अभावसंज्ञा तथा अभाव-संज्ञा के अभाव-रुप अरुपों को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। अतः इन्हें आरुप्य ध्यान कहते हैं।

---

1. वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानकुसलचित्तं विचारपीतिसुखेकग्गता-सहितं दुतियज्झानकुसलचित्तं······उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानकुसलचित्तं चेति इमानि पञ्च ·· (अभिध० खण्ड 1, पृ० 62)
2. दिस्सन्ति खो पन रूपाधिकरणं दण्डादान–सत्थादानकलह–विग्गह–विवादतुवंतुवं–पेसुञ्ञ-मुसावादा। नत्थि खो पनेतं सब्बसो अरूपे ति। सो इति पटिसंखाय रूपानं येव निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति। (म० नि० खण्ड 2, पृ० 88)

   तस्स किञ्चापि रूपावचरचतुत्थज्झानवसेन करजरूपं अतिक्कन्तं होति, अथ खो कसिणरूपम्पि यस्मा तप्पटिभागमेव, तस्मा तम्पि समतिक्कमितुकामो होति। (विसु० खण्ड 2, पृ० 698)

   यथा पिसाचभीरूको रत्तिं खाणुम्पि भायति। एवं करजभीरूको योगी कसिणरूपकं। (अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 905)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम आरूप्य-ध्यान—जब योगी चतुर्थ ध्यान में पाँच वशिताओं द्वारा अभ्यस्त हो जाता है तो वह उस ध्यान से उठकर विहार करते हुए उसे कसिण रुप के आलम्वन से उत्पन्न होने के कारण दोषयुक्त देखता है। इसके अतिरिक्त उसे यह प्रतीत होता है कि चतुर्थ ध्यान का सुख के अंग वाले तृतीय ध्यान से सामीप्य होने के कारण उसका स्वभाव शान्त नहीं हो सकता है, फलतः वह अरुप-ध्यान की तुलना में स्थूल ही है। इस प्रकार चतुर्थ ध्यान में विभिन्न प्रकार के दोषों को देखकर वह रूप का आलम्वन त्याग कर अनन्त आकाश की भावना करता है।[1] यहाँ रूप-आलम्बन के त्याग का अभिप्राय रूप को ध्यान में न लाना ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब कसिण प्रारम्भ में योगी के ध्यान का आलम्बन होता है तो छोटे आकार का होता है। तत्पश्चात् उद्ग्रह निमित्त से उत्पन्न प्रतिभाग निमित्त अपेक्षाकृत अधिक परिशुद्ध एवं विशाल होता है।[2] योगी चतुर्थ ध्यान की अवस्था तक इस प्रतिभाग निमित्त को बढ़ाकर उसे विश्वाकार वना लेता है। तत्पश्चात् वह जब अपने ध्यान से रूप को हटाता है तो उसे केवल अनन्त आकाश का ही मान होने लगता है।[3] जिस प्रकार ढक्कन से ढँके हुए कुम्भ पर से ढक्कन हटाने से कुम्भ-मुख के भीतर खाली विवर दिखाई देता है। उसी प्रकार ध्यान से विश्वाकार प्रतिभाग निमित्तभूत कसिण रूप के हटाने से अनन्त आकाश ध्यान में आने लगता है।[4] अतः प्रतिभाग निमित्तस्वरूप कसिण रूप को मन में न लाकर अनन्त आकाश की भावना करना ही प्रथम आरूप्य ध्यान की परिकर्म भावना है। ऐसी भावना को पुनःपुनः करने से जब रूप-आलम्बन ध्यान से हट जाता है तो उसे उपचार भावना कहते हैं। तत्पश्चात् पुनः उसी की भावना करने पर जब आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरूप्य ध्यान की उत्पत्ति होती है तो उसे अर्पणा भावना कहते हैं। चूंकि आकाश की उत्पत्ति एवं विनाश नहीं होता है अतः आदि तथा अन्त से रहित उसे अनन्त कहा जाता है।[5]

---

1. आसन्नसोमनस्स पच्चत्थिकं तिच सन्तविमोक्खतो ओलारिकं ति च आदीनवं पस्सति।
(विसु० खण्ड 2, पृ० 699–700)
2. पटिभागनिमित्तं···ततो सतगुणं सहस्सगुणं सुपरिसुद्धं हुत्वा उपट्ठाति।
(वही, खण्ड 1, पृ० 269)
3. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 97-98।
4. द्रष्टव्य विसु० खण्ड 2, पृ० 700–703 तथा अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 906।
5. एत्थ नास्स उप्पादन्तो वा वयन्तो वा पञ्ञायती ति अनन्तो
(विसु० खण्ड 2, पृ० 708)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय आरूप्य ध्यान—जब योगी पांच वशिताओं के द्वारा प्रथम आरूप्य ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब वह आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरूप्य ध्यान से उठकर विहार करते हुए विचार करता है कि चूंकि प्रथम आरूप्य ध्यान चतुर्थं रूप-ध्यान का निकटवर्ती है। अतः प्रथम आरूप्य ध्यान की निरन्तर भावना न करने पर चतुर्थं रूप-ध्यान में पतन होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त यह द्वितीय आरूप्य ध्यान के बराबर शान्त एवं प्रणीत नहीं है। इस प्रकार प्रथम आरूप्य ध्यान में दोष देखकर जब योगी द्वितीय आरूप्य ध्यान को प्राप्त करने का इच्छुक होता है तो वह आकाश का अतिक्रम कर प्रथम आरूप्य विज्ञान को आलम्बन बना ध्यान करता है।[1] चूंकि विज्ञान को आलम्बन बनाने के पूर्व प्रथम आरुप्य ध्यान में आकाश-ध्यान का आलम्वन होता है और उसके साथ अनन्त विशेषण जुड़ा हुआ है। अतः उसके बाद ध्यान का आलम्बन वनने वाले विज्ञान के साथ भी अनन्त शब्द जोड़ा जाता है।[2] तात्पर्यं यह कि योगी द्वितीय आरुप्य ध्यान में अनन्त विज्ञान को अपने ध्यान का विषय बनाता है।

द्वितीय आरुप्य ध्यान की भावना करने वाला योगी उत्पाद, स्थिति और भंग को ध्यान में न रखकर सम्पूर्ण विज्ञान को ही आलम्बन के रूप में अपनाता है।

जब योगी आकाशानन्त्यायतन में दोषों को देखकर तथा विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त करने की इच्छा से भावना करता है तो वह उसकी परिकर्म-भावना है। पुनः पुनः भावना करता हुआ वह जब अनन्त आकाश का अतिक्रमण करता है तो उसे उपचार भावना तथा द्वितीय आरुप्य ध्यान की प्राप्ति को अर्पणा भावना कहते हैं।

तृतीय आरूप्य ध्यान

जब योगी पांच वशिताओं द्वारा विज्ञानानन्त्यायतन नामक द्वितीय आरुप्य ध्यान में अभ्यस्त होकर ध्यान से उठकर विहार करते हुए उसके विषय में विचारता है तो उसे वह द्वितीय आरुप्य ध्यान भी दोषयुक्त प्रतीत होता है। कारण कि द्वितीय आरुप्य ध्यान प्रथम आरुप्य ध्यान का निकटवर्ती है। द्वितीय

---

1. आसन्नरूपावचरज्झानपच्चत्थिका अयं समापत्ति, नो च विञ्ञाणञ्चायतनामिव सन्ताति···आदीनवं दिस्वा · तं आकासं फरित्वा पवत्तविञ्ञाणं · पुनप्पुनं आवज्जितब्बं। (वही, पृ० 709)

2. तं येव अनन्तो आकासो ति एवं फरित्वा पवत्तविञ्ञाणं 'अनन्तं विञ्ञाणं' ति एवं मनसिकरोन्तो ति वुत्तं होति··· (वही, पृ० 711)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरुप्य ध्यान के नष्ट होने पर वह प्रथम आरुप्य ध्यान में पहुँच जायेगा। इसके साथ ही उसे तृतीय आरुप्य ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त और प्रणीत दिखायी देता है। फलतः वह द्वितीय आरुप्य ध्यान के आलम्बन का समतिक्रम कर उसके अभाव को अपने ध्यान का आलम्बन बनाकर भावना करता है। वह 'कुछ नहीं है, कुछ नहीं है' इस प्रकार की भावना को पुनः पुनः करता हुआ द्वितीय आरुप्य ध्यान के प्रति अनुरक्ति हटाने की साधना करता है। यही तृतीय आरुप्य ध्यान की परिकर्म भावना है। जब योगी द्वितीय आरुप्य ध्यान की अनुरक्ति से विमुक्त हो जाता है, तब वह उपचार भावना को प्राप्त होता है। उसके बाद भी अभाव-रूप आलम्बन की पुनः पुनः भावना करने पर जब योगी आकिंचन्यायतन नामक तृतीय आरुप्य ध्यान को प्राप्त कर लेता है तो अर्पणा भावना की उत्पत्ति होती है। इसमें प्रथम-आरुप्य-विज्ञान के किसी भी रुप में न रहने पर ही 'कुछ भी नहीं है' की भावना की जा सकती है।[1]

यहां यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय आरुप्य ध्यान प्रथम आरुप्य विज्ञान का आलम्बन करता है किन्तु तृतीय आरुप्य की प्राप्ति के लिये प्रथम आरुप्य विज्ञान का समतिक्रमण करना आवश्यक है। यहां अतिक्रमण का अर्थ पूर्व (प्रथमारूप्य विज्ञान) का आलम्वन न कर अन्य का आलम्बन करना है। तृतीय आरुप्य ध्यान में 'कुछ नहीं है' इस प्रकार अभाव का आलम्बन किया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति कार्यवश बाहर जाते हुए रास्ते में विद्यमान सभामण्डप में भिक्षुओं को देखता है और लौटते समय तक सभा विसर्जित हो जाने के कारण सभामण्डप में किसी भिक्षु को न देखकर उसे ऐसा ज्ञान नहीं होता कि वे भिक्षु मर गये अथवा अन्यत्र चले गये अपितु उसके मन में 'सभामण्डप शून्य है, खाली है' इतना ही भाव आता है। उसी प्रकार तृतीय आरुप्य ध्यान को प्राप्त योगी 'नहीं है नहीं है' इस प्रकार का ही विचार ध्यान में लाता है।[2]

चतुर्थ आरूप्य ध्यान

जब योगी पाँच वशिताओं द्वारा तृतीय आरूप्य ध्यान में पूर्ण रूप से अभ्यस्त होकर उस ध्यान से उठकर अपनी साधना के विषय में विचारता है

---

1. ···विञ्ञा णञ्चायतने आदीनवं दिस्वा···आकिञ्च यतनं सन्ततो मनसिकरित्वा तस्सेव वि णञ्चायतनारम्भणभूतस्स आकासानञ्चायतन वि णस्स अभावो · मनसिकातब्बो। (वही, पृ० 712)

2. यथा नाम पुरिसो मण्डलमालादीसु·· सन्निपतितं भिक्खुसंघ दिस्वा · आगन्त्वा द्वारे ठत्वा पुन तं ठानं आलोकेन्तो सुञ्ञ मेव पस्सति···नास्स एवं होति एत्तकानाम भिक्खू कालंकता वा दिसापक्कन्ता वा···। (वही, पृ० 713–714)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो उसे प्रतीत होता है कि आकिंचन्यायतन नामक तृतीय आरूप्य ध्यान विज्ञानानन्त्यायतन नामक द्वितीय आरूप्य ध्यान का निकटवर्ती है। पुनः पुनः अभ्यास में किसी प्रकार की त्रुटि होने पर द्वितीय आरूप्य ध्यान में गिर जाने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ आरूप्य ध्यान अधिक शान्त एवं प्रणीत है। इस प्रकार तृतीय आरूप्य ध्यान में दोष एवं चतुर्थ आरूप्य ध्यान में गुण को देखकर वह चतुर्थ आरूप्य ध्यान की प्राप्ति के लिये भावना करता है। वह योगी तृतीय आरूप्य ध्यान के अभाव आलम्बन का अतिक्रमण कर जब पुनः 'यह शान्त है, यह प्रणीत है' इस प्रकार की भावना करता है और आकिंचन्यायतन के प्रति तृष्णा का परित्याग करने के लिये भावना करता है तो उसकी वह भावना परिकर्म भावना कहलाती है। जब वह आकिंचन्यायतन की अनुरक्ति से विमुक्त हो जाता है तो उसको उपचार भावना की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चतुर्थ आरूप्य ध्यान की प्राप्ति ही अर्पणा भावना है।[1]

चतुर्थ आरूप्य ध्यान को प्राप्त योगी के लिये अभाव की संज्ञा भी स्थूल होने से त्याज्य होती है तथा इसमें अभाव की संज्ञा का भी अभाव होता है। अतः चौथा आरूप्य ध्यान अत्यन्त शान्त और सूक्ष्म होता है। इस ध्यान में संज्ञा अति सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है। इसलिये इस ध्यान के योगी को सर्वथा संज्ञा-विमुक्त नहीं कहा जा सकता है। किन्तु स्थूल रूप में न होने से उसे संज्ञा भी कह सकते हैं। इसीलिये इस आयतन को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा जाता है। योगी की इस स्थिति को विभिन्न उदाहरणों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। उदाहरणस्वरूप गुरू और शिष्य प्रवास पर थे। रास्ते में पानी को देखकर शिष्य ने गुरू से कहा कि मार्ग में पानी है, अतः ज़ुते उतार लीजिये। तब गुरू ने शिष्य से कहा कि लोटा निकालो स्नान कर लूँ। इस पर शिष्य ने कहा कि वह स्नान करने के लिये पर्याप्त नहीं है। यहाँ जिस प्रकार पानी जूतों को गीला करने के लिये पर्याप्त होने पर भी स्नान के लिए पर्याप्त नहीं है, ठीक उसी प्रकार चतुर्थ आरुप्य ध्यान में संज्ञा अति सूक्ष्म रूप में विद्यमान होने पर भी इतने स्थूल रूप में नहीं होती है जिससे संज्ञा का कार्य सम्पन्न हो सके। इसी प्रकार किसी श्रामणेर ने पात्र को तेल से मलकर रख छोड़ा था। उसी समय जब स्थविर ने यवागु पीने के लिये श्रामणेर से पात्र माँगा तो श्रामणेर ने कहा कि पात्र में तेल है। इस पर जब स्थविर ने तेल लाने को कहा तो

1. एवं आकिञ्चायतने आदीनवं उपरि आनिसंस च दिस्वा···निकन्ति परियादाय नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं सन्ततो मनासिकरित्वा·· । (वही पृ० 716)
द्रष्टव्य—अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 910

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रामणेर ने कहा कि लाने लायक तेल नहीं है। यहाँ चूँकि पात्र तेल से लिप्त है, अतः यह कहा जाता है कि पात्र में तेल है किन्तु माँगने पर यह भी कहा जा सकता है कि तेल नहीं है। यही स्थिति नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चतुर्थ आरुप्य ध्यान की होती है। इस ध्यान में योगी एकदम संज्ञा-विहीन नहीं होता है। अतः उसे संज्ञामुक्त नहीं कहा जा सकता है। किन्तु वह संज्ञा इतनी सूक्ष्म होती है कि किसी संज्ञा के कार्य को नहीं कर सकती है, अतः व्यावहारिक दृष्टि से उसे संज्ञा-विहीन ही कहा जाता है।[1]

चार आरूप्य ध्यानों में समानता एवं असमानता

चार आरुप्य ध्यानों में उपेक्षा एवं चित्त की एकाग्रता ये दो ही अंग होते हैं। जिस प्रकार रुप-ध्यानों में अंगों का प्रहाण होता है उस प्रकार आरूप्य-ध्यानों में नहीं होता है। प्रथम रूप ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता–ये पांच अंग होते हैं। द्वितीय रूप ध्यान में प्रीति, सुख तथा एकाग्रता ये तीन अंग ही अवशिष्ट रहते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति भी समाप्त हो जाती है। फलतः उसमें सुख तथा एकाग्रता – ये दो ही अंग होते हैं। अन्तिम रूप-ध्यान में उपेक्षा एवं एकाग्रता ही रहती है। इन ध्यान-अंगों की क्रमिक कमी से ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त, प्रणीत एवं सूक्ष्म होते जाते हैं। चार आरुप्य ध्यानों में अंग-प्रहाण जैसी कोई बात नहीं होती है। चारों ही आरुप्य ध्यानों में उपेक्षा एवं चित्त की एकाग्रता समान रुप से उपलब्ध होती है।[2] फिर भी यहां आलम्बन के बदलने से ध्यान क्रमशः सूक्ष्म एवं प्रणीत होते जाते हैं। रूप का अतिक्रमण कर आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरुप्य-ध्यान चतुर्थ रूप-ध्यान की तुलना में अधिक सूक्ष्म और शान्त होता है किन्तु द्वितीय आरुप्य ध्यान उससे भी शान्त होता है। यह क्रम चौथे आरुप्य ध्यान तक चलता है। उसमें योगी की संज्ञा अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। इसके बाद ध्यान की और कोई सूक्ष्म अवस्था नहीं होती है जिसे योगी भावना से प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि उसके बाद कोई सूक्ष्म आलम्बन शेष नहीं बचता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति संयम-रहित कठोर राजा के दोषों को देखता हुआ भी अपनी वृत्ति के लिये उसी के सहारे रहता है। ठीक उसी

---

1. ओलारिकाय सञ्ञाय अभावतो सुखुमाय च भावतो नेवस्स ससम्पयुत्तधम्मस्स ज्ञानस्स सञ्ञा नासञ्ञं ति नेवस नासञ्ञं। (विसु० खण्ड 2, पृ० 720–723)
द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 98।

2. सब्बासु पि हि एतासु उपेक्खा चित्तेकग्गता ति द्वे एव ज्ञानंगानि होन्ति। (विसु० खण्ड 2, पृ० 727)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार योगी अन्य आलम्बन के अभाव में दोष देखने पर भी चतुर्थ आरूप्य ध्यान के सहारे ही रहता है।[1]

यद्यपि चारों आरूप्य ध्यान समान अंगों वाले होते हैं फिर भी पिछले ध्यान से अगला ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त और सूक्ष्म होता है। जिस प्रकार चार मंजिल वाले प्रासाद के निचले तल में काम भोगों की जो चीज़ें हों, उनकी तुलना में दूसरे तल में और अधिक उत्तम हो। यही क्रम चौथे तल तक हो। तो जिस प्रकार प्रासाद के तल की दृष्टि से चारों तलों में समानता होती है किन्तु वस्तु की उत्तमता की दृष्टि से चारों तलों में विभिन्नता भी रहती है। उसी प्रकार दो अंगों से युक्त होने की दृष्टि से चारों आरूप्य ध्यानों में समानता होने पर भी ध्यान के आलम्बनों की विभिन्नता से उनमें असमानता भी है।[2]

समापत्तियों की प्राप्ति में समानता

प्रथम रूप ध्यान से चतुर्थ आरूप्य ध्यान तक आठों समापत्तियों की उपलब्धि की प्रक्रिया में समानता दृष्टिगोचर होती है। योगी पूर्व समापत्ति में दोष तथा अगली समापत्ति में गुण को देखकर उसे प्राप्त करने के लिए भावना करता है। तत्पश्चात् वह अगली समापत्ति की बाधा को समाप्त करता है और इसके बाद वह अगली समापत्ति को प्राप्त करता है। इस क्रम में उसे पुनः पुनः भावना करनी होती है जिसे क्रमशः परिकर्म भावना, उपचार भावना तथा अर्पणा भावना कहा गया है। जब योगी किसी समापत्ति को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये यह आवश्यक होता है कि वह आवर्जन, समावर्जन, अधिष्ठान, व्युत्थान तथा प्रत्यवेक्षण वशिताओं द्वारा उस प्राप्त समापत्ति पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर ले। इस आधिपत्य-स्थापना से वह उस समापत्ति में पूर्ण अभ्यस्त हो जाता है। इसके बाद योगी में इतनी क्षमता आ जाती है कि वह प्राप्त समापत्ति के दोषों को देख सके। इस प्रकार के दोषों को देखने से ही उसे अगली समापत्ति को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है।

योगी पाँच वशिताओं द्वारा जब प्राप्त समापत्ति में पूर्ण रूप से अभ्यस्त हो जाता है तो वह उस समापत्ति से उठता है जिससे उसके भवांग चित्त उत्पन्न हो जाते हैं। उपपत्ति भव की अविच्छिन्न प्रवृत्ति के हेतुभूत चित्त को भवांग चित्त कहते हैं। तत्पश्चात् योगी भवांग चित्तों की सन्तति को काटकर पुनः

---

1. आरम्भणं करोतेव अञ्ञाभावेन तं इदं।
दिट्ठदोसम्पि राजानं वुत्तिहेतु जनो यथा॥ (वही पृ० 730)
2. सुप्पणीततरा होन्ति पच्छिमा पच्छिमा इध।
उपमा तत्थ विञ्ञेय्या पासादतल साटिका॥ (वही, पृ० 728)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी निमित्त को आलम्बन करके ध्यान करता है। इससे उसी आलम्बन में चार-पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। इनमें अन्तिम जवन से अगली समापत्ति की प्राप्ति होती है।

इन सभी समापत्तियों से चित्त की एकाग्रता क्रमशः निर्मल एवं सुदृढ़ होती जाती है और अन्त में तो ऐसी स्थिति में योगी पहुँच जाता है जिसमें संज्ञा भी अतिसूक्ष्म रूप में बचती है।

ये आठ समापत्तियाँ शमथ भावना के कारण ही उपलब्ध होती हैं। अतः इन्हें शमथ भावना की उपलब्धियाँ कहा जाता है।

अभिज्ञा

समाधि से उत्पन्न विशेष प्रज्ञा को अभिज्ञा कहते हैं। चतुर्थ रूप-ध्यानगत ज्ञान ही अभिज्ञा है। यहाँ 'अभि' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। जब योगी चतुर्थ रूप ध्यान में पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाता है तो उसके अन्दर चित्त की एकाग्रता से कुछ आध्यात्मिक शक्तियों का उदय होता है। अतः अभिज्ञा को भी शमथ भावना की उपलब्धि के रूप में माना जाता है।

योग-साधना के विषय में यह धारणा है, कि योगी अपनी साधना के बल पर कुछ अलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। भगवान् बुद्ध के समय लोग तपस्वियों के पास इसलिये भी पहुँचते थे कि सम्भवतः वे अपनी अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन करेंगे।[1] यद्यपि भगवान् बुद्ध ने इन अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन को अनुचित बताया है किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि बौद्ध धर्म में जो योग-साधना की जाती है उससे योगी किन-किन अलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध-ग्रन्थों में ऐसी अलौकिक शक्तियों को ही अभिज्ञा शब्द से व्यक्त किया गया है।

दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त से विदित होता है कि योगी का चित्त जब शमथ-भावना से एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप, क्लेशों से रहित तथा मृदु हो जाता है तो वह अपने चित्त को मनोमय शरीर के निर्माण करने, अनेक प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करने, दिव्य श्रोत धातु को पाने, दूसरों के चित्त को जानने की शक्ति को प्राप्त करने, पूर्वजन्मों का स्मरण करने तथा दिव्य चक्षु

---

1. साधु, भन्ते, भगवा एकं भिक्खुं समादिसतु यो उत्तरिमनुस्सधम्मा इद्धिपाटिहारियं करिस्सति; एवायं नालन्दा भिय्यो सोमत्ताय भगवति अभिप्पसीदिस्सती ति।
(दी० नि० खण्ड 1, पृ० 183)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की प्राप्ति में लगाता है।[1] इन्हीं सब शक्तियों को मुख्य रूप से पांच भागों में विभक्त किया गया है—ऋद्धिविध, दिव्य श्रोत्र, परचित्तविजानन शक्ति, पूर्वनिवासानुस्मृति तथा दिव्य चक्षु।[2]

ऋद्धिविध

जो सिद्ध होती है, उसे ऋद्धि कहते हैं और ऋद्धि के प्रकारों वाले विशिष्ट ज्ञान को ऋद्धिविध कहते हैं। ऋद्धियां दश प्रकार की होती हैं—अधिष्ठान ऋद्धि, विकुर्वण ऋद्धि, मनोमय ऋद्धि, ज्ञानविस्फार ऋद्धि, समाधिविस्फार ऋद्धि, आर्य ऋद्धि, कर्मज ऋद्धि, पुण्यवान् की ऋद्धि, विद्यामय ऋद्धि तथा सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि। इनमें से यहां प्रथम तीन ऋद्धियां ही विवेचनीय हैं क्योंकि बौद्ध योगी उन्हें ही प्राप्त करता है।[3]

जो ऋद्धि एक होकर भी अनेक होने आदि का अधिष्ठान करती है, उसे अधिष्ठान ऋद्धि कहा जाता है। इस ऋद्धि के प्रभाव से योगी एक होकर अनेक होता है। अनेक होकर एक होता है, प्रगट होता है, अन्तर्धान होता है। दीवार, प्रकार तथा पर्वत के आर-पार बिना टकराये चला जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह आकाश में बिना रूकावट के जा रहा हो। वह पृथ्वी पर जल में डुबकी लगाते हुए जैसा और जल पर पृथ्वी पर चलने जैसा काय करता है। वह आकाश में पालथी मारकर पक्षी की तरह उड़ता है, सूर्य और चाँद को हाथ से छूता है तथा ब्रह्मलोक तक अपने शरीर से वश में किये रहता है।[4] जिससे स्वाभाविक रूप को छोड़कर अन्य रूपों को धारण किया जाता है उसे विकुर्वण ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि के द्वारा योगी अपने स्वाभाविक रुप को त्याग कर कुमार, नाग, असुर, देव आदि के रूपों में से किसी एक रूप को धारण करने में समर्थ हो जाता है।[5]

---

1. सो एवं समाहिते चित्ते परिसुद्धे परियोदाते अनंगणे विगतूपक्किलेसे मुदुभूते कम्मनिये ठिते आनेञ्जप्पत्ते…। (वही पृ० 68)
2. इद्धिविधं दिब्बसोतं परिचित्त विजानना।
पुब्बेनिवासानुस्सति दिब्बचक्खू ति पन्चधा॥ (अभिध० खण्ड 2, पृ० 913)
3. इति इमासु दससु इद्धीसु इद्धिविधाया ति इमस्मिं पदे अधिट्ठाना इद्धि येव आगता। इमस्मिं पनत्थे विकुब्बना मनोमया इद्धियो पि इच्छितब्बा एवं। (विसु० खण्ड 2, पृ० 835)
4. सो अनेकविहितं इद्धिविधं पच्चनुभोति—एको पि हुत्वा बहुधा होति…… इमे पि चन्दिमसुरिये…पाणिना परामसति ‥। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 69)
5. …विकुब्बनं ताव करोन्तेन सो पकतिवण्णं विजहित्वा कुमारकवण्णं वा दस्सेति नागवण्ण वा…। (विसु खण्ड 2, पृ० 877)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब योगी इस शरीर से एक दूसरे भौतिक, मनोमय, सभी अंग प्रत्यंगों से युक्त अच्छे पुष्ट इन्द्रिय वाले शरीर का निर्माण करता है तो उसे मनोमय ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि से योगी प्रकृत शरीर से मनोमय शरीर उसी प्रकार निकालता है जिस प्रकार कोई पुरुष मूंज से सरकंडे को, म्यान से तलवार को तथा पिटारे से सांप को निकालता है।[1]

दिव्य श्रोत्र

योगी दिव्य श्रोत्र को प्राप्त करने के लिये अपने चित्त को झुकाता है। दिव्य श्रोत्र को पाने के बाद वह उनसे देवताओं के साथ-साथ मनुष्यों के भी शब्द सुनता है। निकट के साथ-साथ दूर के भी शब्द सुनता है। जिस प्रकार कोई पुरुष रास्ते में जाता हुआ भेरी, मृदंग, मंख तथा प्रणव के शब्दों को सुनकर उन शब्दों के स्वरूप को सही ढंग से जानता है उसी प्रकार योगी दिव्य श्रोत्र से देवताओं के, मनुष्यों के, पास के तथा दूर के शब्दों को सुनकर उन्हें ठीक से जान लेता है कि यह शब्द किसका है।[2]

यहां यह उल्लेखनीय है कि देवताओं की श्रोत्र धातु पित्त, कफ, लोहू आदि बाधाओं से तथा उपक्लेश से विमुक्त होती है। योगी भी जब भावना बल से श्रोत्र धातु प्राप्त करता है तो वह भी देवताओं की श्रोत्र धातु के समान होती है। अतः उसे दिव्य कहा गया है।[3]

दिव्य श्रोत्र को प्राप्त करने के लिये योगी को समाधि-चित्त से पहले दूरवर्ती जंगल के शेर आदि के शब्दों का आवर्जन करना चाहिये। फिर स्थूल से सूक्ष्म शब्दों का आवर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् दिशाओं और अनुदिशाओं के शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। इस दिव्य श्रोत्र धातु को प्राप्त करने के लिये परिकर्म भावना होती है। तत्पश्चात् उन शब्दों में से किसी एक शब्द को आलम्बन बनाकर जब योगी ध्यानस्थ होता है तो चार या पांच चेतनायें उत्पन्न होती हैं। अन्तिम चेतना से दिव्य धातु की प्राप्ति होती है। उसके बाद योगी अपने दिव्य श्रोत्र की सीमा को क्रमशः बढ़ाते हुए उसे चक्रवाल पर्यन्त बढ़ाता है।[4]

---

1. सो इमम्हा काया अञ्ञं कायं अभिनिम्मिनाति — रूपिं मनोमयं सब्बंगपच्चङ्गिं अहीनिन्द्रियं। (दी० नि खण्ड 1 पृ० 68)
2. सो दिब्बाय सोतधातुया विसुद्धाय अतिक्कन्तमानुसिकाय उभो सद्दे सुणाति दिब्बे च मानुसेच ये दूरे सन्तिके च। (वही पृ० 69)
3. एत्थ दिब्बसदिसत्ता दिब्बा। (विसु खण्ड 2 पृ० 881)
4. वही, पृ० 883–884

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परचित्त विजाजन ज्ञान

फिर योगी अपने शुद्ध चित्त को दूसरे के चित्त की बात को जानने में लगाता है। सर्वप्रथम योगी आलोक कसिण को बढ़ाकर दूसरे के हृदय रूप के सहारे चित्त को जानता है। सौमनस्य चित्त का रंग बरगद के फल के समान लाल, दौर्मनस्य चित्त का रंग पके जामुन की तरह काला तथा उपेक्षा चित्त का रंग परिशुद्ध तिल के तेल की तरह अवदात होता है और फिर इससे परचित्त को जानने के ज्ञान को सुदृढ़ बनाता है। जब उसको भावना का अभ्यास करते-करते इस विषय में अर्पणा की प्राप्ति हो जाती है तो वह बिना हृदय रूप को देखे ही दूसरे के चित्त को भली-भांति जानने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।[1]

तत्पश्चात् वह राग-सहित, वैराग्य-सहित, द्वेष-सहित, द्वेष-रहित, मोह-सहित, मोह-रहित आदि चित्तों को उसी रूप में जानने लगता है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने सजे-धजे रूप को दर्पण या स्वच्छ जल में मुख की स्वच्छता या मैलेपन को स्पष्ट रूप से देखता है उसी प्रकार योगी भी दूसरे के चित्त को ठीक उसी रूप में देखने में समर्थ हो जाता है।[2]

पूर्वनिवासानुस्मृति

तब योगी अपने शुद्ध एवं मृदु चित्त को पूर्व जन्मों की बातों को याद करने में लगाता है। वह एक जन्म, दो जन्मों की बातों के स्मरण करने के क्रम से बढ़ता हुआ अनेक संवर्तविवर्त कल्पों की बातों का स्मरण करने की शक्ति को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गाँव से दूसरे गाँव और फिर तीसरे गाँव जाकर वापिस अपने गाँव लौट आये। लौट कर आये उस पुरुष को जिस प्रकार पहले तथा दूसरे गाँव की सारी घटनायें सोचने पर याद हो आती हैं, उसी प्रकार योगी को भी सोचने पर पूर्व जन्मों की बातों का स्मरण होने लगता है।[3]

इस अभिज्ञा को प्राप्त करने के लिये योगी को सबसे पहले पिछली बैठक का स्मरण करना चाहिये। तत्पश्चात् उससे पूर्व के कार्यों का क्रमशः स्मरण

1. एवं थामगते हि तस्मिं अनुक्कमेन सब्बम्पि कामावचरचित्तं रूपावचरारूपावचर-चित्तञ्च पजानाति, चित्ता चित्तमेव संकमन्तो विना पि हदयरूपदस्सनेन।
(वही पृ० 888)

2. सो परसत्तानं परपुग्गलानं चेतसा चेतो परिच्च पजानाति···।
(दी० नि० खण्ड 1, पृ० 70)

3. सो अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति सेय्यथिदं एकं पि जाति···अनेके पि संवट्टविवट्टकप्पे···।
(वही, पृ० 71)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हुए व्यतीत हुए दिन-रात के कार्यों का स्मरण करना चाहिये। इसी क्रम को बढ़ाता हुआ योगी अपने जन्म तक की बातों का स्मरण करने में समर्थ हो जाता है। तत्पश्चात् पूर्व निवासों के स्मरण का अभ्यास करते हुए योगी अनेक संवर्त विवर्त कल्पों की बातों को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।[1]

दिव्यचक्षु

उसके बाद योगी अपने एकाग्र एवं मृदु चित्त को प्राणियों के जन्म-मरण के विषय में जानने के लिये लगाता है। यह दिव्य चक्षु प्राप्त करने के बाद उससे मरते, उत्पन्न होते, हीन अवस्था से आये, अच्छी अवस्था से आये, अच्छे वर्ण वाले, बुरे वर्ण वाले प्राणियों को जान लेता है। वह दुराचरण के बाद नरक को प्राप्त और सदाचरण के बाद स्वर्ग को प्राप्त प्राणियों को दिव्य चक्षु से देखकर जान लेता है।[2]

चूंकि दिव्य चक्षु से च्युति एवं उत्पाद का ज्ञान होता है, अतः इसे च्युति-उत्पाद ज्ञान भी कहते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल च्युति को देखने वाला उच्छेद दृष्टि को सही मानने लगता है और जो केवल उत्पाद भाग को देखता है, वह नये सत्वों की उत्पत्ति को मानने वाला हो जाता है। किन्तु जिस योगी को दिव्य चक्षु उत्पन्न हो जाती है वह प्राणियों की च्युति एवं उत्पत्ति को एक साथ देखता है जिससे न तो वह उच्छेद दृष्टि का पोषक होता है और न ही असत् की उत्पत्ति को मानने वाला होता है।[3]

शमथ भावना की उपलब्धियों के उक्त संक्षिप्त विवरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म में शील विशुद्धि के अनन्तर चित्त की विशुद्धि को प्रभूत महत्व दिया गया है। योग-साधना का प्रधान उद्देश्य चित्त की एकाग्रता में बाधक धर्मों को शान्त करना है। जब बाधक धर्मों का उपशम होता है तो चित्त में ध्यान की ओर अग्रसर होने का बल उत्पन्न हो जाता है। चूंकि ध्यान का प्रारम्भ पाँच नीवरणों के प्रहाण से होता है। अतः प्रारम्भ में नीवरणों के प्रति-पक्षी पाँच अंगों का होना स्वाभाविक ही है।

---

1. विसु० खण्ड 2 पृ० 896।
2. ...सत्तानं चुतूपपातञाणाय चित्तं अभिनीहरति...सो दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्तमानुसकेन सत्ते पस्सति चवमाने उपपज्जमाने हीने पणीते सुवण्णे दुब्बण्णे सुगते दुग्गते। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 72)
3. विसु० खण्ड 2 पृ० 893–894।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगी शमथ-भावना की इस प्रथम उपलब्धि को प्राप्त कर उससे आगे बढ़ने की इच्छा से आगे-आगे की समापत्तियों को प्राप्त करता हुआ अन्तिम आठवीं समापत्ति पर इसलिये रूक जाता है क्योंकि उससे आगे सूक्ष्म ध्यान के लिये कोई आलम्बन उपलब्ध नहीं होता है।

इस प्रकार शमथ-भावना से योगी आठ समापत्तियों की क्रमिक उपलब्धि से चित्त को उपेक्षा एवं एकाग्रता से सम्पन्न कर विपश्यना की भावना करने योग्य हो जाता है। बिना चित्त-विशुद्धि के विपश्यना की भावना नहीं की जा सकती है। अतः शमथ भावना की यही उपलब्धि है कि योगी क्रमशः सभी आठों समापत्तियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर दुःख को निरोध एवं भवबन्धन के उच्छेद के लिये विपश्यना भावना को करने की स्थिति में आ जाता है।

इतना ही नहीं अपितु शमथ भावना से उपलब्ध ध्यानों के साथ ही योगी के अन्दर कुछ ऐसी शक्तियों का उदय होता है जो जन-साधारण को प्राप्त नहीं हो सकती है। यद्यपि इन शक्तियों को लौकिक अभिज्ञा की संज्ञा दी गयी है किन्तु इन शक्तियों के स्वरूप को देखते हुए इन्हें अलौकिक या आश्चर्यजनक कहा जा सकता है।

आज के वैज्ञानिक एवं भौतिक युग में चित्त विशुद्धि से उत्पन्न अभिज्ञाएँ भले ही विश्वास योग्य प्रतीत न हों किन्तु भारत के प्राचीन गौरवपूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप को देखकर इन्हें सच मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिये।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अनावश्यक न होगा कि बौद्ध योगी का प्रधान लक्ष्य चित्त को निर्मल एवं मृदु बनाना ही होता है और उसे वह शमथ भावना से सम्पन्न करता है। चित्त के मृदु एवं निर्मल होने के बाद उसमें तरह-तरह की अलौकिक शक्तियों की उपलब्धि उसका गौण लक्ष्य है। कारण, अभिज्ञाओं के अन्तर्गत ऋद्धिविध ज्ञान विपश्यना में अन्तराय ही उत्पन्न करता है। इसीलिए जब योगी विपश्यना-भावना करता है तो इन विभिन्न ऋद्धियों का उपयोग न कर अपनी भावना को परिपूर्ण करता है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छठाँ अध्याय

विपश्यना–भावना–विधि

विगत अध्यायों में शमथ-भावना का वर्णन किया जा चुका है।[1] यह शमथ-भावना चित्त की एकाग्रतास्वरूप समाधि में सहायक होती है तथा योगी शमथ भावना से नीवरणों का प्रहाण कर आठ समापत्तियों को प्राप्त करता है किन्तु निर्वाण के लिये शमथ की भावना के पश्चात् विपश्यना की भावना करना आवश्यक है। विपश्यना के विना न तो योगी अर्हत् पद को प्राप्त कर सकता है और न ही संसार-बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः इस अध्याय में विपश्यना-भावना की विधि का संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा।[2]

विशेष रूप से देखना विपश्यना है, विपश्यना की भावना से योगी क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होने वाले नाम-रूप धर्मों के अनित्य स्वभाव को जानता है। तत्पश्चात् जो अनित्य है वे दुःख रूप है, इस तथ्य का अनुभव होता है। अन्त में योगी यह जानता है कि जो नाम-रूप अनित्य एवं दुःख स्वरूप है, वे अनात्म है। इस प्रकार योगी जब नाम-रूप धर्मों के अनित्य, दुःख तथा अनात्म स्वरूप को विशेष रूप से देखने लगता है तो उसके ज्ञान को विपश्यना ज्ञान कहते हैं।[3]

यह विपश्यना प्रज्ञा का मार्ग है। शमथ को लौकिक समाधि कहा गया है जबकि विपश्यना को लोकोत्तर समाधि।[4] भगवान् बुद्ध ने नाम-रूप धर्मों के जिस अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों का प्रतिपादन किया है, उसकी वास्तविक अनुभूति शमथ भावना से सम्भव नहीं है। उसके लिये तो

---

1. द्रष्टव्य अध्याय 4 एवं 5 पृ० 111 से 178।
2. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 99–100।
3. अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन पस्सती ति विपस्सना। (अट्ठ० पृ० 45)
   ...एत्थ च अनिच्चलक्खणमेव आगतं, न दुक्खलक्खण अनत्तलक्खणानि। अत्थवसेन पन आगतानेवाति दट्ठब्बानि...यहि अनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता ति। (सम्मोह०, पृ० 415)
4. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 41।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपश्यना की भावना करनी ही होगी।[1] शमथ-भावना में समाधि चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर की जाती है जबकि विपश्यना की भावना का आलम्बन नाम-रूप ही होते हैं। चूँकि विपश्यना का आलम्बन लौकिक कर्मस्थान नहीं होते हैं, अतएव इसे लोकोत्तर समाधि कहा जाता है।[2]

आत्मा के अस्तित्व को मानने से ही प्राणी सांसारिक बन्धनों में फँसता है। चूंकि आत्मा को स्पष्ट रूप से नहीं देखा जा सकता है, अतः उसके विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पनायें की जाती हैं। इससे कुछ लोग शाश्वतवाद के अनुयायी बन जाते हैं तो कुछ लोग उच्छेदवाद का समर्थन करते हैं।[3]

बौद्ध साधना में आत्मा-सम्बन्धी मान्यता को मुक्ति के लिए बाधक माना गया है। जो योगी शरीर में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है उसकी दृष्टि कभी विशुद्ध नहीं हो सकती है। अतएव अनत्तसुत्त में शरीर में विद्यमान रूप तथा नाम (वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) को अनित्य, दुःख एवं अनात्म बताया गया है। नाम तथा रूप विकार को प्राप्त होने के कारण अनित्य है, अनित्य होने के कारण दुःख है और अनित्य एवं दुःख में 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' ऐसा भाव नहीं किया जा सकता है। जब बौद्ध योगी नाम एवं रूप को स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हो जाता है और उससे जब उसके अन्दर आत्म-तत्त्व के अस्तित्व की मान्यता समाप्त हो जाती है, तभी वह विपश्यना-भावना में परिपूर्णता को प्राप्त कर सकता है।[4]

विपश्यना भावना की सिद्धि के लिये योगी को शील-विशुद्धि एवं चित्त-विशुद्धि से सम्पन्न होना आवश्यक है। प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिसुद्धिशील तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील—इन चार प्रकारों के शीलों से सम्पन्न होने से शील विशुद्धि और कामच्छन्द आदि पाँच नीवरणों के प्रहाण से चित्तविशुद्धि होती है। विगत अध्यायों में शील-विशुद्धि तथा चित्त-विशुद्धि का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अतः इनके विषय में पुनः लिखने से पुनरुक्ति ही होगी।

विपश्यना भावना के इच्छुक योगी की साधना शील-विशुद्धि एवं चित्त-

1. तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा···अनिच्चं भन्ते···दुक्खं भन्ते··· कल्लं नु तं समनुपस्सितुं—एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता ति ? नो हेतं भन्ते··· एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं। (महावग्गो, पृ० 17)
2. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 43।
3. विसु० खण्ड 3, पृ० 1185।
4. महावग्गो, पृ० 17।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्धि के अनन्तर ही वास्तविक रूप से प्रारम्भ होती है।[1] उसे इन दो विशुद्धियों के अनन्तर दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि तथा ज्ञानदर्शनविशुद्धि की भावना करनी होती है।[2] शील-विशुद्धि से लेकर ज्ञानदर्शन-विशुद्धि तक सात विशुद्धियों के स्वरूप को रथविनीत सूत्र में सुस्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार इन सात विशुद्धियों का महत्व इतना ही है कि योगी प्रथम विशुद्धि के माध्यम से द्वितीय विशुद्धि तक पहुँचता है और द्वितीय विशुद्धि के माध्यम से तृतीय विशुद्धि तक। इस प्रकार योगी सातवीं विशुद्धि तक पहुँचने में समर्थ हो पाता है। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक उपमा दी गयी है। उपमा इस प्रकार है—राजा प्रसेनजित् श्रावस्ती और साकेत के मध्य सात रथविनीत स्थापित करे। यदि कभी श्रावस्ती में रहते हुए राजा प्रसेनजित् को साकेत में कोई आवश्यक कार्य उत्पन्न हो जाये तो वह श्रावस्ती से निकलकर पहले रथविनीत पर चढ़कर द्वितीय रथविनीत तक जाय। तत्पश्चात् प्रथम रथविनीत को छोड़कर द्वितीय रथविनीत से तृतीय रथविनीत तक जाय। इस प्रकार वह सातवें रथविनीत से साकेत सरलता से पहुँच सकता है। उसी प्रकार योगी पहली विशुद्धि से सातवीं विशुद्धि तक पहुँच जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम विशुद्धि की उपयोगिता द्वितीय विशुद्धि की प्राप्ति तक है। इसी प्रकार छठीं विशुद्धि का महत्व सातवीं विशुद्धि की प्राप्ति तक है। इस उपमा से एक यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि सभी विशुद्धियाँ एक साथ नहीं होती हैं।[3]

विपश्यना-भावना की विधि के प्रसंग में दृष्टिविशुद्धि से लेकर ज्ञानदर्शन-विशुद्धि तक पाँच विशुद्धियाँ ही यहाँ विवेचनीय हैं।

दृष्टि-विशुद्धि

स्मृति-सम्पन्न योगी जब अपने शरीर में विद्यमान तत्त्वों को सूक्ष्मता से देखता है तो उसे यह निश्चय होता है कि मानव शरीर में रूप, वेदना, संज्ञा,

---

1. एत्थ पन यस्मा पञ्ञाय···सील विसुद्धि चेव चित्तविसुद्धि चा ति इमा द्वे विसुद्धियो मूलं। (विसु० खण्ड 2, पृ० 963)
2. मूलभूता द्वे विसुद्धियो सम्पादेत्वा शरीरभूता पञ्च विसुद्धियो सम्पादेन्तेन भावेतब्बा। (वही)
3. एवमेव खो, आवुसो, सीलविसुद्धि यावदेव चित्तविसुद्धत्था···पटिपदाञाणदस्सन-विसुद्धियावदेव ञाणदस्सनविसुद्धत्था, ञाणदस्सनविसुद्धि यावदेव अनुपादायरिनिब्बानत्था। (म० नि० खण्ड 2, पृ० 198)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार तथा विज्ञान के अतिरिक्त आत्मा नामक पृथक् तत्व नहीं है। इनमें से विकार को प्राप्त होने के स्वभाव वाला रूप, अनुभव करने वाली वेदना, सज्जानन (पहचानने) के लक्षण वाली संज्ञा, अभिसंस्कार लक्षणवाला संस्कार तथा विजानन (जानने) वाला विज्ञान है। जब योगी अपने शरीरगत विभिन्न तत्त्वों को देखता है तो उसे इन्हीं रूप, वेदना आदि पाँच स्कन्धों का अनुभव होता है। इससे आत्मा जैसे तत्त्व का निराकरण होता है। आत्मा-सम्बन्धी मान्यता के समाप्त हो जाने से योगी की दृष्टि विशुद्ध हो जाती है। यही योगी की दृष्टि-विशुद्धि है।[1]

जब तक दृष्टि-विशुद्धि नहीं होती, योगी आत्मा के चक्कर में पड़ा रहता है और विपश्यना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाता है।

आत्मावादी आत्मा को जीवात्मा एवं परमात्मा के रूप में दो प्रकार का मानते हैं। परमात्मा की मान्यता के विषय में दीघनिकाय में जो विवरण मिलता है उसके अनुसार प्रलय के बाद शून्य ब्रह्मविमान उत्पन्न होता है और उसमें आभास्वर ब्रह्मलोक से पुण्यक्षय के कारण च्युत होकर कोई प्राणी उत्पन्न होता है। वह जब अकेला रहते-रहते ऊब जाता है और दूसरे प्राणी के आने की इच्छा करता है तभी दूसरे प्राणी भी उसी प्रकार आभास्वर ब्रह्मलोक से वहाँ उत्पन्न होते हैं। इस प्रक्रिया से पहले आने वाले प्राणी को ईश्वर, ब्रह्मा आदि और बाद में आने वाले प्राणी को सामान्य प्राणी समझा जाने लगता है। संयोगवश बाद में उत्पन्न प्राणी अल्पायुवश ब्रह्मविमान से च्युत होकर मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है और वह चित्त को एकाग्र कर जब अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता है तो उसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मविमान में सबसे पहले जो प्राणी विद्यमान था वह आज भी वहीं है। उसकी इच्छा से मैं वहाँ उत्पन्न हुआ था और उसके पहले ही मैं वहाँ से च्युत होकर मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुआ हूँ। अतः निश्चय ही पहले उत्पन्न होकर आज तक ब्रह्मविमान में रहने वाला प्राणी सर्वशक्तिमान् ब्रह्मा है और अन्य प्राणियों का कर्ता है। इस विश्वास से परमात्मा तथा जीवात्मा के सिद्धान्त का उदय हुआ।[2]

---

1. तत्थ नामरूपानं य।थावदस्सनं दिट्ठिविसुद्धि नाम। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1369)
   लक्खण-रस-पच्चुपट्ठान-पदट्ठानवसेन नामरूपरिग्गहो दिट्ठिविसुद्धि नाम। (अभिध० खण्ड 2, पृ० 925)
2. सो एवमाह—यो खो सो भवं ब्रह्मा···येन मयं भोता ब्रह्मुना निम्मिता, सो निच्चो धुवो···ये पन मयं अहुम्हा तेन···निम्मिता, ते मयं अनिच्चा···। (दी० नि० खण्ड 1, पृ० 18)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा के विषय में भी अनेक मत मतान्तर दृष्टिगोचर होते हैं।[1] कुछ लोग आत्मा को व्यापक मानते हैं, तो कुछ शरीर-प्रमाण। आत्मा के विषय में जो भी धारणायें हैं, वे अनुभव पर आधारित न होकर कल्पना पर आधारित हैं। जब तक कल्पनाप्रसूत आतम-तत्व के मोह से योगी मुक्त नहीं होता है तब तक वह दु:ख-क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता है। अतः योगी को आत्मवाद के क्षय के लिये दृष्टिविशुद्धि अभीष्ट होती है।

दृष्टिविशुद्धि से योगी को यह स्पष्ट होने लगता है कि जिस प्रकार नेमि, चक्र आदि अंगों के समूह से रथ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार नाम-रूप के होने पर सत्व की प्रतीति होती है। जब रथ के अंगों पर अलग-अलग विचार करते हुए रथ को देखा जाता है तो रथ नाम की वस्तु दिखाई नहीं देती है। कारण, रथ के अंगों से अलग रथ नामक कोई वस्तु है ही नहीं। इसी प्रकार योगी जब रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का स्वरूप अलग-अलग समझने लगता है, तो उसे इन पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त शरीर में कुछ भी प्रतीत नहीं होता है।[2] जिस प्रकार लकड़ी, ईंटा, लोहा आदि के मिले-जुले रूप को आगार कहा जाता है। उसी प्रकार अस्थि आदि के मिले-जुले रूप को ही शरीर कहा जाता है।[3] मनुष्य के शरीर में आतमा नामक कोई तत्त्व नहीं है किन्तु फिर भी पाँच स्कन्ध एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर उसी प्रकार जाने-आने, उठने-बैठने आदि की क्रियाओं से युक्त होते हैं जिस प्रकार कठपुतलियां रज्जु के योग से विभिन्न क्रियाओं को करती हैं।[4]

इस प्रकार योगी जब पुनः पुनः भावना करता है तो उसे 'आत्मा नहीं है अपितु केवल नाम-रूप ही है' इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिसके फलस्वरूप उसकी आत्मा-सम्बन्धी मिथ्यादृष्टि का विनाश हो जाता है। इसी मिथ्यादृष्टि के विनाश से योगी को दृष्टि-विशुद्धि की उपलब्धि हो जाती है।

---

1 (देखिये जैन धर्म-दर्शन पृ० 155-174)।

2. यथा पि अंगसम्भारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुती ति॥ (सं० नि० खण्ड 1, पृ० 135)

3. सेय्यथापि, आवुसो, कट्ठं च पटिच्च वल्लिं च पटिच्च ··आगारं त्वेव संखं गच्छति, एवमेव खो, आवुसो, ट्ठिं च पटिच्च·· रूपं त्वेव संखं गच्छति।
(म० नि० खण्ड 1, पृ० 240)

4. रज्जुयोगा दारूयन्तं सब्यापारं व खायति।
एवं सुञ्ञं नामरूपं अञ्ञमञ्ञ समायुतं॥ (अभिध० खण्ड 2, पृ० 926)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कांक्षावितरणविशुद्धि

आत्मा-सम्बन्धी दृष्टि के प्रहाण के वाद नाम एवं रूप के कारणों के विषय में विभिन्न शंकाओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, उनके मत में तो पूर्व भव से आत्मा इस भव में आता है और इस भव के वाद वह अगले भव में जाता है। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न अच्छे या बुरे कर्मों के फलस्वरूप सुगति या दुर्गति प्राप्त करता है। किन्तु जब आत्मा को नहीं मानकर केवल नामरूप को ही स्वीकार किया जाता है तो विभिन्न प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जैसे—क्या मैं अतीत भव में था ? क्या मैं अतीत भव में नहीं था ? अतीत में मैं कौन और किस प्रकार का था ? पूर्व के तृतीय भव में किस जाति का होकर द्वितीय भव में किस जाति का था ? इसी प्रकार अनागत भव के विषय में भी प्रश्न उठते हैं।[1]

जब योगी प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में कथित कार्य-कारण भाव का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसकी सभी प्रकार की शंकाओं का निराकरण हो जाता है और उसे कांक्षावितरणविशुद्धि की उपलब्धि हो जाती है। दृष्टि-विशुद्धि में योगी को केवल नामरूप का निश्चय होता है किन्तु कांक्षावितरण-विशुद्धि से वह नामरूप के कारणों को ठीक से समझने लगता है।[2]

नामरूप के वास्तविक हेतुओं का अन्वेषण करने से योगी अहेतुक दृष्टि तथा विषमहेतुक दृष्टियों से मुक्त होता है। कुछ लोग नामरूप की उत्पत्ति बिना किसी कारण के मानते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि को अहेतुक दृष्टि कहते हैं। अहेतुक दृष्टिं में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि अकारण होने से नामरूप में विभिन्नता नहीं रह जायेगी। जो एक व्यक्ति का रूप होगा, वही दूसरे व्यक्ति का भी होगा। इसी प्रकार वेदना, संज्ञा संस्कार तथा विज्ञान में इन्द्रियगत भेद नहीं रहेगा। चक्षु के समागम से जैसा रूप-विज्ञान होता है, श्रोत्र के समागम से भी वैसा ही रूप-विज्ञान होना चाहिये। अतः नामरूप को अहेतुक न मानकर उनका हेतु मानना आवश्यक है।[3]

---

1. सो एवं अयोनिसो मनसि करोति—अहोसि नु खो अहं अतीतमद्धानं अयं नु खो सत्तो कुतो आगतो ? सो कुहिंगामी भविस्सती ति। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 12)

2. एतस्सेव पन नामरूपस्स पच्चयपरिग्गहणेन कंखं वितरित्वा ठितं ञाणं कंखावितरण-विसुद्धि नाम। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1399)

3. तत्र, भिक्खवे, ये ते समणब्राह्मणा एवंवादिनो ··यं किं चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति ···सब्बं तं अहेतु-अप्पच्चया···। (अ० नि० खण्ड 1, पृ० 161)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ लोग ब्रह्मा, ईश्वर आदि को जगत् का निर्माता मानते हैं। अतः नामरूप भी इन्हीं ब्रह्मा, ईश्वर आदि जगत् के निर्माता द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के लोगों को विषमहेतुक दृष्टि वाला कहते हैं। कारण, ईश्वर या ब्रह्मा का नामरूप से कोई साम्य नहीं है। विषमहेतुक दृष्टि भी मिथ्यादृष्टि है क्योंकि ईश्वर आदि को नामरूप का हेतु मानने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। जैसे—जगत् का निर्माता यदि नाम-रूप वाला है तो उसके नामरूप का क्या हेतु है? यदि उसके नामरूप को अहेतुक माना जाय तो सभी नामरूपों को अहेतुक मानना होगा। संसार के निर्माता के उद्देश्य को लेकर भी आपत्ति होती है। यदि वह अपने लाभ के लिये जगत् का निर्माण करता है तो उसे सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। यदि वह परार्थ के लिये संसार की रचना करता है तो पीड़ा देने वाले पशुओं के निर्माण का कोई औचित्य दिखायी नहीं देता है आदि।[1]

अतः अहेतुक दृष्टि एवं विषमहेतुक दृष्टि के परिहार के लिये बौद्ध-दर्शन में समहेतु का विधान किया गया है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य किसी कारण से होता है और वह कार्य किसी का कारण बनता है।[2] यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तार से वर्णन करना न तो सम्भव है और न ही अभीष्ट। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के माध्यम से नाम-रूप के हेतु सम्बन्धी समस्त शंकाओं को दूर कर योगी कांक्षावितरणविशुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

मार्गामार्गज्ञानदर्शन-विशुद्धि

जब योगी मार्ग और अमार्ग को देखने तथा जानने वाले ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो उसे मार्गामार्गज्ञानदर्शन-विशुद्धि की उपलब्धि होती है।[3] योगी इसके पूर्व की चार विशुद्धियों में नाम-रूपों में अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों पर विचार नहीं करता है। कारण, शीलविशुद्धि के समय केवल शील की विशुद्धि के लिये प्रयास किया जाता है, चित्तविशुद्धि के समय चित्त को पाँच नीवरणों से मुक्त कर चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने का उद्योग होता है। दृष्टिविशुद्धि

---

1. ···यं किं चायं ··सब्बं तं इस्सरनिम्मानहेतू···तेनहायस्मन्तो पाणातिपातिनो भविस्सन्ति इस्सरनिम्मानहेतु··· (वही)
(द्रष्टव्य—विसु० (परम०) खण्ड 3, पृ० 1401–1403)
2. विसु० खण्ड 3 पृ० 1181–1190।
3. अयं मग्गो, अयं न मग्गो ति एवं मग्गं च अमग्गं च ञत्वा ञाणं पन मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि नाम। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1425)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के समय नाम-रूप का ठीक से निश्चय कर आत्मदृष्टि का प्रहाण होता है तथा कांक्षावितरणविशुद्धि के समय नामरूप के हेतु का निर्धारण होता है। उसके बाद योगी नामरूप के अनित्य आदि लक्षणों पर विचार करता है। ऐसा करते समय वह धर्मों का विभाग न कर समग्र नाम-रूपों के लक्षणों पर विचार करता है। इसके अतिरिक्त वह अतीत, प्रत्युत्पन्न एवं अनागत भव के नामरूपों के लक्षणों का विचार करता है। एक भव में उत्पन्न सन्तति का तथा उसके उत्पाद-स्थितिभंग पर विचार करता है। इसे योगी का सम्मर्शन ज्ञान कहते है। इस सम्मर्शनज्ञान से वह धर्मों की सभी तीनों अवस्थाओं को जानने में सक्षम हो जाता है। वह नाम-रूपों की नष्ट होने वाली तथा उत्पन्न होने वाली अवस्था को स्पष्ट रूप से जानने लगता है।[1] ऐसा होने से योगी को यह भान होने लगता है कि नामरूप अनित्य है, दुःख है तथा चूँकि नामरूपों की अनित्यता एवं दुःखरूपता को दूर नहीं किया जा सकता है, अतः वे अनात्म हैं।[2] इस प्रकार योगी न केवल सामने स्थित नामरूपों की अनित्यता, दुःखरूपता एवं अनात्मता को जानता है अपितु समस्त नामरूपों के इस त्रिविध लक्षण को समझने में समर्थ हो जाता है।

सम्मर्शनज्ञान के परिपक्व हो जाने पर योगी जब पुनः भावना करता है तो उसे नामरूप धर्मों के उत्पाद और विनाश को जानने वाला उदयव्ययज्ञान उत्पन्न होता है। नामरूप किसी रूप में अपने उत्पाद के पूर्व विद्यमान तथा विनाश के बाद अवशिष्ट नहीं रहते हैं। उदाहरणस्वरूप वीणा के तारों पर उँगुलियों के रखते ही शब्द उत्पन्न होता है और उँगुलियों के हटाने से शब्द निरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार नामरूप भी पहले या बाद में सत्ता में न रहकर सदैव नये रहते हैं।[3]

जब योगी नामरूपों में उदय-व्यय का सुस्पष्ट ज्ञान करने में सक्षम हो जाता है तो उसके चित्त में प्रकाश की अनुभूति होती है। इसके साथ ही उसे

---

1. ततो परं पन···अतीतादिभेदभिन्नेसु खन्धादिनयमारब्ध कलापवसेन संखिपित्वा अनिच्चं खयट्ठेन दुक्खं भयट्ठेन अनत्ता असारकट्ठेनाति अद्धानवसेन सन्ततिवसेन खणवसेन वा सम्मसन ञाणेन लक्खणेत्तयं सम्मसन्तस्स···।
(अभिध० खण्ड 2, पृ० 932–933)
2. यं हि अनिच्चं दुक्खं, तं अत्तनो पि अनिच्चतं वा·· वारेतुं न सक्कोति कुतो तस्स कारकादिभावो···। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1436)
3. अनुप्पन्ना नुप्पज्जन्ति उप्पन्ना पि निरूज्झरे।
निच्चं नवाव संखारा वीणासद्दसमूपमा ॥
(अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 938 से उद्धृत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी उपलब्धि पर प्रीति, प्रश्रब्धि, अधिमोक्ष (प्रसन्नता), वीर्य, सुख आदि की अनुभूति होती है। इन्हें विपश्यना को दूषित करने के कारण उपक्लेश कहा गया है। क्योंकि इन विभिन्न अनुभूतियों से योगी को यह मिथ्या भ्रान्ति हो सकती है कि उसे मार्ग या फल की प्राप्ति हो गयी है। इस प्रकार अवभास आदि में अनुरक्त योगी विपश्यना-मार्ग से च्युत हो जाता है। इसके अतिरिक्त ये अवभास आदि तृष्णा, मान तथा दृष्टि के आधार बनकर विपश्यनाचित्त को दूषित करने में कारण भी बन सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अवभास, प्रीति आदि धर्म विपश्यना-चित्त से सम्प्रयुक्त धर्म होते हैं, अतः इन्हें मुख्य उपक्लेश तो नहीं कहा जा सकता है किन्तु 'ये अवभास आदि मेरे हैं' इस प्रकार की तृष्णा, 'ये अत्यन्त अनुराग के योग्य हैं। इस प्रकार का मान तथा 'ये मुझमें उत्पन्न हुए हैं' इस प्रकार की दृष्टि जब हो जाती है, तो वही अवभास आदि तृष्णा, मान तथा दृष्टि के कारण मुख्य उपक्लेश बन जाते हैं।[1]

इसलिये इन अवभास, प्रीति आदि के प्रति अनुराग करना अमार्ग है तथा इनके प्रति ध्यान न देकर विपश्यना की समुचित रूप से भावना करते रहना ही सच्चा मार्ग है। इस प्रकार मार्ग और अमार्ग का विनिश्चय करने वाले ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान आँख से देखने की तरह होने से इसे दर्शन भी कहा गया है। मार्ग एवं अमार्ग को जानने और देखने से दस उपक्लेशों से विपश्यना की विशुद्धि बनी रहती है। इसीलिये इसे मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि के नाम से जाना जाता है।[2]

प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि

मार्ग एवं फल की प्राप्ति में कारणभूत मार्ग को प्रतिपदा कहते हैं। संस्कारों को अनित्य, दुःख तथा अनात्म रूप में जानने से उसे ज्ञान कहते हैं तथा देखने के समान स्पष्ट ज्ञान होने से उसे दर्शन कहते हैं। क्लेश धर्मों से अत्यन्त विहीन होने से इसमें विशुद्धि समाविष्ट है। तात्पर्य यह कि मार्ग प्राप्ति के कारण-भूत प्रतिपदा के ज्ञान और दर्शन में विशुद्धि को प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि कहते

---

1. मम ओभासो उप्पन्नो ति गण्हतो हि दिट्ठिगाहो होति, मनापो वत ओभासो उप्पन्नो ति गण्हतो मानगाहो ओभासं अस्सादयतो तण्डागाहो,···

(विसु० खण्ड 3 पृ० 1504)

2. ···ओभासादयो धम्मा न मग्गो। उपक्किलेसविमुत्तं पन वीथिपटिपन्नं विपस्सना णं मग्गो···अयं मग्गो, अयं न मग्गो ··मग्गामग्ग···णदस्सनविसुद्धी ति वेदितब्बं।

(विसु० खण्ड 3, पृ० 1507)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। इसके अन्तर्गत योगी क्रमशः आठ ज्ञानों को प्राप्त करता हुआ अनुलोमज्ञान, तथा गोत्रभू चित्त को उत्पन्न करता है। ये आठ ज्ञान हैं—उदयव्ययज्ञान, भंगज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, विर्वेदज्ञान, मुञ्चितुकम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान तथा संस्कारोपेक्षा ज्ञान।[1] अतः प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम इन आठ ज्ञानों की विवेचना आवश्यक है।

उदयव्ययज्ञान

मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि में उदयव्ययज्ञान उत्पन्न होने पर भी दश उपक्लेशक धर्मों द्वारा विघ्न उपस्थित किये जाने से अनित्य, दुःख तथा अनात्म लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं। जब योगी मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि के सम्पन्न हो जाने के बाद अवभास, प्रीति आदि अनुभूतियों की ओर विशेष ध्यान न देकर निरन्तर उदयव्ययज्ञान की भावना करता है, तो उसके उपक्लेशक धर्मों का प्रहाण हो जाता है तथा अनित्य, दुःख एवं अनात्म-इन तीन लक्षणों का स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। इस प्रकर योगी प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि, उदयव्ययज्ञान में परिपक्वता को प्राप्त करता है।[2]

भंगज्ञान

जब योगी को उदयव्ययज्ञान से नाम-रूप धर्मों का उदय एवं व्यय स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगता है, तब शीघ्रता से होनेवाले उदय-व्यय में से वह उदय का आलम्बन न कर केवल भंग का ही अनुभव करने लगता है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तृण या पत्र पर विद्यमान ओस के कणों या जल में उठने वाले बुलबुलों के उत्पाद की अपेक्षा उनके विनाश को ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, उसी प्रकार योगी भी नामरूप धर्मों के भङ्ग को ही देखने लगता है।[3] इस प्रकार योगी जब वर्तमानकालीन नामरूप धर्मों के भंग को देखने में समर्थ हो जाता है तो वह अतीत तथा अनागत नामरूप धर्मों के विषय में विचार कर उनके भी भङ्ग को ही जान पाता है। जब योगी भंग को आलम्बन

1. अट्ठन्नं पनञाणानं वसेन सिखाप्पत्ता विपस्सना नवमञ्च सच्चानुलोमिकं ञाणं ति अयं पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धिनाम। (वही, पृ० 1581)
2. तयिदं सब्बम्पि अयं योगावचरो उपक्किलेसविमत्तेन वीथिपटिपन्नविपस्सनासंखातेन उदयब्बयानुपस्सना ञाणेन याथावसरतो सल्लक्खेति। (वही पृ० 1513)
3. आरम्भणं पटिसंखा भंगानुपस्सने पञ्ञा विपस्सने ञाणं। (पटि० पृ० 65) यथानाम चक्खुमा परिसो··· उदकबुब्बुलकानि···भिज्जमानानि पस्सेय्य, एवमेव सब्बे संखारा भिज्जन्ति भिज्जन्ती ति पस्सति। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1524)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाने वाले चित्त का भी भङ्ग देखने में समर्थ हो जाता है तब वह भङ्ग-ज्ञान में परिपक्वता को प्राप्त कर लेता है।[1]

भयज्ञान

नाम-रूप धर्मों के निरन्तर होने वाले भङ्ग का सम्यग्ज्ञान हो जाने के बाद योगी को 'ये नामरूप धर्म अत्यन्त भयावह हैं' इस प्रकार भयज्ञान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार दीर्घ आयु तथा सुख की इच्छा रखनेवाला पुरुष सिंह व्याघ्र आदि से व्याप्त भयानक जंगल को देखकर 'यह भय का स्थान है' ऐसा सोचकर जङ्गल से भयभीत होता है। उसी प्रकार योगी नामरूप धर्मों के विषय में यह विचार कर कि 'इसका अतीत भव में भंग हुआ है, प्रत्युत्पन्न भव में भंग हो रहा है तथा अनागत भव में भंग होगा, अतः ये भयोत्पादक हैं' भयज्ञान को प्राप्त करता है।[2]

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि योगी को नामरूप धर्मों के भङ्गज्ञान से भयज्ञान उत्पन्न होता है तथापि योगी को या भयज्ञान को भय नहीं होता है। योगी को तो मात्र इतना ज्ञान होता है कि नामरूप भय को उत्पन्न करनेवाले धर्म हैं। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने माता-पिता तथा साथियों को कष्ट पहुँचाने वाला हो तो उसे देखकर अन्य पुरुषों को यह ज्ञान होता है कि 'यह पुरुष बड़ा कष्टदायक है' किन्तु उससे अन्य पुरुष भयभीत नहीं होते हैं। इसी प्रकार योगी 'नामरूप धर्म भयोत्पादक हैं', इस प्रकार भयज्ञान को प्राप्त करता है।[3]

आदीनव-ज्ञान

नामरूप धर्मों में 'ये भयानक धर्म हैं' इस प्रकार भयज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर 'ये नामरूप धर्म अत्यन्त औदारिक, तुच्छ एवं निर्मूल हैं' ऐसा प्रतिभास होने लगता है। ये नामरूप धर्म उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले अत्यन्त घृणित धर्म हैं। इस प्रकार योगी नामरूप धर्मों में दोष देखनेवाले आदीनवज्ञान

---

1. भंगञ्च अनुपस्सती ति तस्सारम्भणस्स भंग दिस्वा तदारम्भणस्स चित्तस्स भंग अनुपस्सति।

2. तस्सेवं सब्बसंखारानं···निरुज्झिस्सन्ती ति पस्सतो एतस्मिं ठाने भयतुपट्ठान णं नाम उप्पज्जति। (विसु खण्ड 3, पृ० 1526)

3. यथापन···ओलोकयमानो सयं न भायति···तीरणमत्तमेव होति। (वही पृ० 1528)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त करता है। उस ज्ञान से योगी अपने शरीर को क्षणभंगुर, सारहीन तथा घृणित समझने लगता है।[1]

निर्वेदज्ञान

आदीनवज्ञान के बाद योगी नामरूप धर्मों के प्रति रूचि-विहीन हो जाता है। उसमें विपश्यना-भावना के प्रति उत्साह के भी कम हो जाने की सम्भावना हो जाती है। जिस प्रकार गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के पूर्व कुछ दूर तक गन्दगी से युक्त मार्ग होने पर भी दूसरा कोई मार्ग न होने से एवं गन्तव्य स्थान पर पहुँचना आवश्यक होने के कारण उस गन्दगी से युक्त मार्ग से भी जाना पड़ता है लेकिन उस गन्दगी से युक्त मार्ग पर चलते समय कोई उत्साह नहीं होता है। ऐसी ही स्थिति योगी की हो जाती है। यहाँ तक कि मनुष्य देव एवं ब्रह्मभूमियों के निवासियों के भंग को देखकर उनके प्रति भी उदासीनता, अनुत्साह तथा अरुचि हो जाती है। इस प्रकार नामरूप के प्रति अरूचि आदि से युक्त ज्ञान को निर्वेदज्ञान कहते हैं।[2] उक्त भयज्ञान, आदीनवज्ञान तथा निर्वेदज्ञान प्रारम्भावस्था में यद्यपि पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं तथापि अभ्यास के वाद ये तीनों ज्ञान एक ज्ञान के तीन अंग के रूप में हो जाते हैं।[3]

मुञ्चितुकम्यताज्ञान

निर्वेदज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर योगी को उन नामरूप धर्मों से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होने लगती है। जिस प्रकार जाल में फँसी मछली जाल से मुक्त होना चाहती है, उसी प्रकार योगी भी नामरूप धर्मों से मुक्त होना चाहता है। योगी के मन में ऐसा विचार होने लगता है कि यदि दर्शन, श्रवण, दर्शन आदि कुछ भी नहीं होते तो अच्छा होता। वह नामरूप धर्मों को छोड़कर नामरूप धर्मों से मुक्त अवस्था में पहुँच जाने की इच्छा करने लगता है। इस अवस्था में योगी के ज्ञान को मुञ्चितुकम्यताज्ञान कहते हैं।[4]

प्रतिसंख्याज्ञान

नामरूप धर्मों में अनित्य, दुःख तथा अनात्म लक्षणों की पुनः-पुनः विपश्यना करने वाला ज्ञान प्रतिसंख्याज्ञान कहलाता है। यहाँ प्रति का अर्थ वार-बार है, संख्या का अर्थ विपश्यना है।

---

1. ...योगावचरो भंगानुपस्सनावसेन...समन्ततो निरसं निरस्सादं आदीनवमेव पस्सति। तस्सेवं पस्सतो आदीनव ञाणं नाम उत्पन्नं होति। (वही पृ० 1531)
2. वही, पृ० 1537।
3. या च भयतुपट्ठाने पञ्ञा यं च आदीनवे ञाणं या च निब्बिदा, इमे धम्मा एकत्था, व्यञ्जनमेव नानं। (पटि० पृ० 307)
4. विसु० खण्ड 3, पृ० 1539।

18

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामरूप धर्मों के त्रिलक्षण को पुनः-पुनः देखने से जब योगी का ज्ञान परिपक्व हो जाता है तो योगी को असह्य वेदनायें उत्पन्न हो सकती हैं, फिर भी उसे विपश्यना का अभ्यास करना नहीं छोड़ना चाहिये। उसे वेदनाओं के उपशम होने तक विपश्यना की भावना करते रहने से विलक्षणों का स्पष्ट प्रतिभास होने लगता है। इतना होने पर भी कभी-कभी योगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी भावना ठीक प्रकार से नहीं चल रही है। इस प्रकार की प्रतीति नामरूप धर्मों के त्रिलक्षण की और अधिक स्पष्ट रूप से जानने की इच्छा के कारण होती है। ऐसी अवस्था में योगी स्थिर नहीं रह पाता है। वह कभी बैठता है, कभी खड़ा हो जाता है तो कभी चंक्रमण करने लगता है। ऐसा होने पर योगी को अपनी स्थिरता को शान्त करने के लिए चित्त का दमन करना चाहिये और विपश्यना की पुनः पुनः भावना करते रहना चाहिये। इस प्रकार की क्रिया से योगी की अस्थिरता शान्त हो जाती है और त्रिलक्षणों को अधिक स्पष्ट रूप से जानने लगता है। अधिक स्पष्ट रूप से जानने वाले इस ज्ञान को प्रतिसंख्याज्ञान कहते हैं।

संस्कारोपेक्षाज्ञान

प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा जब योगी नामरूप धर्मों के त्रिलक्षण को भली-भाँति जान लेता है तो उसे उन धर्मों की उपेक्षा करने वाला ज्ञान प्राप्त होता है। संस्कारोपेक्षाज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भी योगी संस्कार धर्मों का आलम्बन करके ही विपश्यनाज्ञान में प्रवृत्त होता है किन्तु आलम्बन करने पर भी योगी न तो उन धर्मों में अनुराग करता है और न ही उन्हें भयानक समझता है। वह धर्मों की उपेक्षा करके उनमें अनित्य, दुःख एवं अनात्म भाव की विपश्यना मात्र करता है।

संस्कारोपेक्षाज्ञान प्राप्त हो जाने पर योगी का विपश्यनाज्ञान अत्यन्त विशुद्ध मृदु तथा कर्मव्य हो जाता है। वह प्रयत्न न करने पर भी अपने-आप आलम्बन में प्रवृत्त होता रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म नामरूप धर्मों के भी उत्पाद एवं भंग को बिना किसी व्यापाद के जानता रहता है। इस ज्ञान के बाद योगी को समस्त विपश्यनाज्ञान एवं कृत्यों में 'मैं नहीं, मेरा नहीं, पर नहीं, परकीय नहीं' के भाव के साथ वह संस्कारों को उनके स्वभाव मात्र में ही देखता है।[1]

---

1. एवमेवायं सब्बसंखारेहि मुञ्चितु कामोहुत्वा पटिसंखानुपस्सनाय संखारे परिग्गण्हन्तो अहं ममं ति गहेतब्बं अदिस्वा भयञ्चनन्दिञ्च विप्पहाय सब्बसंखारेसु उदासीनो होति मज्झत्तो।

(वही, पृ० 1551)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुलोमज्ञान

संस्कारोपेक्षाज्ञान के अनन्तर योगी को ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है जो पूर्वोक्त आठ ज्ञानों के अनुरूप तो होता ही है साथ ही मार्गज्ञान एवं फलज्ञान में प्राप्त होने वाले बोधिपक्षीय धर्मों के अनुरूप भी होता है। अतः इस ज्ञान को अनुलोमज्ञान कहते हैं। अनुलोमज्ञान पूर्वोक्त आठ ज्ञानों की ही भाँति नामरूप धर्मों की त्रिलक्षण द्वारा ही विपश्यना करता है तथा उसका लक्ष्य मार्गक्षण में प्राप्त होने वाले बोधिपक्षीय धर्मों को प्राप्त करना होता है। जिस प्रकार किसी राजा के मन्त्रियों ने किसी अपराध पर अपराधी को धर्मशास्त्रों के अनुसार दण्ड दिया हो और राजा ने उस दण्ड की घोषणा की हो तो राजा की वह घोषणा धर्मशास्त्रों के अनुरूप भी होती है और मंत्रिपरिषद् के निर्णय के अनुरूप भी। उसी प्रकार अनुलोमज्ञान भी पहले के आठ ज्ञानों के तथा बाद में होने वाले बोधिपक्षीय धर्मों के अनुरूप होता है।

संस्कारोपेक्षाज्ञान के बाद योगी संस्कारों की उपेक्षा करके जब अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों की विपश्यना करता है तो उसका झुकाव निर्वाण की ओर रहता है। किन्तु निर्वाण दिखाई न पड़ने पर वह पुनः-पुनः संस्कार धर्मों का आलम्बन करता है। किन्तु जब योगी को निर्वाण दृष्टिगोचर हो जाता है तो वह निर्वाण का आलम्बन कर मार्ग की प्राप्ति तक पहुँचने का उद्योग करता है। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। पुराने समय में समुद्र यात्रा करने वाले यात्री अपने जहाज में एक कौआ भी ले जाते थे। जब वे मार्ग भूल जाते थे तो किनारा खोजने के लिये कौए को छोड़ते थे। कौआ जहाज से उड़कर विभिन्न दिशाओं में जाता था। किन्तु किनारा न मिलने पर पुनः जहाज पर आ जाता था। जब उसे किनारा मिल जाता था तो वह किनारे पर चला जाता था। यही स्थिति योगी की होती है। वह संस्कारों की उपेक्षा हो जाने के बाद निर्वाण की खोज में इधर उधर जाता है। किन्तु निर्वाण के न मिलने पर पुनः संस्कारों का ही आलम्बन करता है। निर्वाण दिख जाने पर वह संस्कारों का आलम्बन छोड़कर निर्वाण को आलम्बन बना लेता है।[1]

इस प्रकार उदयव्ययज्ञान से लेकर संस्कारोपेक्षाज्ञान तक आठ ज्ञान और उनसे उत्पन्न अनुलोमज्ञान इन नव ज्ञानों का समावेश प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि में होता है।

ज्ञानदर्शनविशुद्धि

स्रोतापत्तिमार्ग, सकृदागामीमार्ग, अनागामी मार्ग एवं अर्हत् मार्ग इन चार मार्गों के ज्ञान को ज्ञानदर्शनविशुद्धि कहते हैं।

1. अभिध० (टीका) खण्ड 2, पृ० 945–947 तथा विसु० खण्ड 3, पृ० 1586–1589।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वोक्त संस्कारोपेक्षाज्ञान के अन्तिम भाग के रूप में जो अनुलोमज्ञान होता है वही स्रोतापत्ति मार्ग के ज्ञान का आधार होता है। अनुलोमज्ञान को व्युत्थान-गामिनी विपश्यना भी कहते हैं।[1] यहाँ व्युत्थान का अर्थ मार्ग है। अतः मार्ग को प्राप्त करने में कारणभूत विपश्यना को व्युत्थानगामिनी प्रतिपदा कहा जाता है। प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि तथा ज्ञानदर्शनविशुद्धि के बीच में योगी को गोत्रभू चित्त उत्पन्न होता है। जब स्कन्धसन्तति सत्कायदृष्टि तथा विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त होती है तब वह पृथगजन गोत्र कहलाती है और जब वह सत्कायदृष्टि एवं विचिकित्सा से स्कन्ध सन्तति विरहित हो जाती है तो उसे आर्य गोत्र कहा जाता है। यद्यपि गोत्रभू चित्त के उत्पाद से आर्य गोत्र में पहुँचना नहीं होता है तथापि मार्ग के निकट होने से समीपोपचार से गोत्रभू चित्त को आर्य गोत्र कहते हैं।

गोत्रभू चित्त अपने उत्पाद से पूर्व किसी आवर्जन चित्त के उपस्थित न होने पर भी निर्वाण का आलम्वन कर सकता है।[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनुलोमज्ञान मोहरूपी अन्धकार का प्रहाण तो कर सकता है किन्तु निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। इसके विपरीत गोत्रभू निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है किन्तु मोह का विनाश नहीं कर सकता है। जैसे कोई चक्षु वाला पुरुष नक्षत्रयोग को जानने के लिये चन्द्रमा को देखता है किन्तु घने बादलों से ढँके होने के कारण वह देख नहीं पाता तभी हवा का प्रथम झोंका घने बादलों को, दूसरा झोंका मध्यम बादलों को तथा तीसरा झोंका सूक्ष्म बादलों को उड़ा देता है। तब वह पुरुष चन्द्रमा को देखने में समर्थ हो जाता है। यहाँ बादलों के समान मोह है, हवा के तीन झोंकों के समान अनुलोम चित्त है, चन्द्रमा के समान निर्वाण तथा देखने वाले पुरुष के समान गोत्रभू चित्त है।[3]

गोत्रभू चित्त के निरोध होने पर चार कृत्यों को एक साथ करने वाला मार्ग चित्त उत्पन्न होता है। जिस प्रकार दीपक बत्ती को जलाना, अन्धकार को नष्ट करना, प्रकाश को उत्पन्न करना तथा तेल को समाप्त करना इन चार कृत्यों को एक साथ सम्पन्न करता है। उसी प्रकार मार्ग चित्त भी यह दुःख सत्य

1. या सिखापत्ता सा सानुलोमा संखारूपेक्खा वुट्ठानगामिनी विपस्सना ति च पवुच्चति।
(अभिध० खण्ड 2, पृ० 947)

2. विसु० खण्ड 3 पृ० 1593।

3. तत्थ अनुलोमं सच्चटिच्छादकं किलेसतमं विनोदेतुं सक्कोति, न निब्बानारम्भणं कातुं। गोत्रभु निब्बानमेव आरम्भणं कातुं सक्कोति न सच्चपटिच्छादकं तमं विनोदेतुं।
(वही पृ० 1597)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना ही है इस प्रकार विनिश्चयपूर्वक जानने रूप परिज्ञाकृत्य, तृष्णा नामक समुदय सत्य का प्रहाण करना रूप, प्रहाणकृत्य निरोध सत्य का साक्षात्कार करना नामक साक्षात्क्रियाकृत्य तथा मार्ग सत्य को स्वसन्तान में उत्पन्न करना नामक भावनाकृत्य इन चार कृत्यों को एक साथ सम्पन्न करता है।[1]

शीलविशुद्धि से लेकर ज्ञानदर्शनविशुद्धि तक जिन सात विशुद्धियों का अब तक वर्णन किया जा चुका है, उनमें शीलविशुद्धि और चित्तविशुद्धि ये दो विशुद्धियाँ विपश्यना भावना की मूल हैं, दृष्टिविशुद्धि से लेकर ज्ञानदर्शनविशुद्धि तक पाँच विशुद्धियाँ उस भावना के शरीर हैं तथा प्रज्ञा, स्कन्ध, आयतन आदि धर्म भूमि हैं। विपश्यना भावना की विधि का सम्पादन करने के लिये योगी को सर्वप्रथम मूलभूत प्रारम्भिक दो विशुद्धियों में परिपक्वता प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् प्रज्ञा, स्कन्ध आयतन आदि का सुस्पष्ट ज्ञान करके शेष पांच विशुद्धियों को क्रम से प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये।

विपश्यना भावना विधि के पूर्वोक्त संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि योगी नामरूपों का ठीक से विनिश्चय करने के बाद ही आर्य मार्ग की प्राप्ति कर सकता है। जब तक व्यक्ति नामरूप धर्मों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव को नहीं समझेगा, तब तक वह आर्य मार्ग पर पहुँचने में असमर्थ रहेगा। नामरूप धर्मों के त्रिलक्षण को जानने के क्रम को पाँच विशुद्धियों के रूप में स्पष्ट किया गया है।

विपश्यना की भावना को सम्पन्न करने के लिये योगी को किसी बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती है, अपितु उसे अपने पञ्च स्कन्ध स्वरूप के विषय में ही सूक्ष्म चिन्तन करना होता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी विपश्यना-भावना उतनी ही खरी सिद्ध हो रही है जितनी पहले रही थी। यही कारण है कि वर्तमान काल में विपश्यना-साधना के द्वारा विभिन्न प्रकार के दुःखों को दूर करने के लिये अनेक विपश्यना शिविर सफलतापूर्वक चलाये जा रहे हैं।

★

1. अभिञ्ञा पञ्ञा ञातट्ठे ञाणं, परिञ्ञा पञ्ञा तीरणट्ठे ञाणं पहीने पञ्ञा परिच्चागट्ठे ञाणं भावना पञ्ञा एकरसट्ठे णं···। (पटि० पृ० 98)
एवं सच्चाभिसमय कालस्मिं एकक्खणे चतुन्नं किच्चानं वसेन···चत्तारिसच्चानि एक पटिवेधानि होन्ति। (विसु० खण्ड 3, पृ० 1636)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सातवाँ अध्याय

विपश्यना-भावना की उपलब्धियाँ

योगी नाम-रूप धर्मों का परिच्छेद कर उनके अनित्य, दुःख एवं अनात्म भाव को जानकर विपश्यना-भावना को परिपूर्ण करता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि योगी विपश्यना-भावना से क्या प्राप्त करता है ? बौद्ध धर्म के अनुसार विपश्यना या प्रज्ञा योग-साधना का अन्तिम सोपान है और योगी विपश्यना से संसार के बन्धनों को नष्ट कर भवचक्र के भ्रमण से मुक्त हो जाता है। वह अर्हद् अवस्था की प्राप्तिरूप अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[1]

अन्य धर्मों में जहाँ आत्मा के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है, यह माना जाता है कि वह आत्मा जब तक अशुद्ध अवस्था में रहती है, तब तक संसार में भटकती रहती है और अनेक सांसारिक दुःखों का अनुभव करती है। किन्तु जब वह अपनी शुद्धावस्था में पहुँचती है तो संसार से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाती है। इसी अवस्था को मोक्ष शब्द से व्यक्त किया जाता है।[2] उदाहरणस्वरूप जैन धर्म में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व कर उसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य वाला माना गया है। जब वह कर्मों के बन्धन से युक्त होता है तो उसके स्वाभाविक गुणों पर आवरण-सा पड़ जाता है। अतः जैन धर्म में साधक कर्मों के क्षय के लिये साधना करता है। जब वह कर्मों के क्षय से आत्मा को शुद्ध कर लेता है तो वह शुद्ध आत्मा शरीर का त्याग कर लोक के अग्र भाग में मुक्तावस्था के रूप में रहती है।[3] इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी माया या अन्य किसी कारण से अशुद्ध अवस्था को प्राप्त आत्मा ही संसार में जन्म-मरण आदि से युक्त होती है किन्तु शुद्धावस्था में पहुँचकर वह संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। इसी शुद्धावस्था की प्राप्ति के लिए विभिन्न धर्मों में साधना का भी विधान किया गया है।[4]

---

1. तथा सीलेन सोतापन्नसकदागामिभावस्स कारणं पकासितं होति, समाधिना अनागामिभावस्स, पञ्ञाय अरहत्तस्स। (विसु० खण्ड 1, पृ० 26)
2. संसारिणो मुक्ताश्च। (तत्त्वार्थसूत्र 2/10)
   बन्ध हेत्व भाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। (वही 10/2)
3. जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणी।
   भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥ (द्रव्यसंग्रह, गा० 2)
4. बौद्ध धर्म-दर्शन (भूमिका) पृ० 15–16।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्ध धर्म में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं माना गया है। अतः उसके सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि योगी विपश्यना भावना से जब सांसारिक दुखों का विनाश करता है तो उसकी क्या स्थिति होती है। बौद्ध धर्म में दुःख और दुःख से मुक्ति को ही महत्त्व दिया गया है। प्रश्न होता है दुःखी कौन होता है, तथा दुःख से मुक्त कौन होता है? आत्मवादी दर्शनों से से यदि ऐसा प्रश्न किया जाये तो उनका उत्तर होगा 'जीवात्मा'। किन्तु बौद्ध धर्म में इस प्रकार के प्रश्न को ही गलत माना गया है। इस धर्म के अनुसार प्रश्न इस प्रकार होना चाहिये कि 'क्या होने से दुःख होता है,' और 'क्या करने से दुःख से मुक्ति होती है'? नामरूप में आत्मभाव एवं तृष्णा ही दुःख का कारण है और नामरूप का ठीक से विनिश्चय कर आत्मग्राहदृष्टि के परित्याग से ही दुःख निरोध हो सकता है।[1] बौद्ध धर्म में योगी विपश्यना की साधना से आत्म-ग्राह दृष्टि के प्रहाण हो जाने के बाद नामरूप धर्मों में अनित्य, दुःख एवं अनात्म भाव प्रकट हो जाने पर योगी मार्ग एवं फल की ओर अग्रसर होता है। मार्ग चार हैं--स्रोतापत्ति मार्ग, सकृदागामी मार्ग, अनागामी मार्ग और अर्हत् मार्ग। इसी प्रकार फल भी चार प्रकार के हैं—स्रोतापत्ति फल, सकृदागामी फल, अनागामी फल एवं अर्हत् फल। विपश्यना के योगी का चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति होता है। अतः अर्हत् पद की प्राप्ति ही विपश्यना भावना की उपलब्धि है।[2]

उक्त चार मार्गों पर आरूढ़ होकर योगी संयोजनों का प्रहाण करने का उद्योग करता है और जब वे संयोजन नष्ट हो जाते हैं तब उस मार्ग के फल को प्राप्त कर लेता है। अतः यहां सर्वप्रथम दस प्रकार के संयोजनों की विवेचना एवं तत्पश्चात् चार मार्गों एवं चार फलों पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

संयोजन

जो धर्म सत्व को संसार-चक्र में बांधकर रखते हैं उन्हें संयोजन कहते हैं। जिस प्रकार रस्सी के बन्धन से युक्त पशु एक निश्चित स्थान को छोड़कर अन्यत्र

---

1. सोमनासिकरणीये धम्मे पजानन्तो अमनीसिकरणीये धम्मे पजानन्तो ये धम्मा न मनासिकरणीया ते धम्मे न मनसिकरोति, ये धम्मा मनसिकरणीया ते धम्मे मनसिकरोति। सो इदं दुक्खं···अयं दुक्खसमुदयो···अयं दुक्खनिरोधो···अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति योनिसो मनसिकरोति। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 13–14)

2. विसु० खण्ड 3, पृ० 1599–1606।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं जा सकता है, उसी प्रकार संयोजन से युक्त सत्त्व संसार-चक्र से बाहर नहीं निकल सकता है।[1]

संयोजन दस होते हैं—कामराग संयोजन, रूपराग संयोजन, अरूपराग-संयोजन, पटिघ संयोजन, मान संयोजन, दृष्टि संयोजन, शीलव्रतपरामर्श संयोजन, विचिकित्सा संयोजन, औद्धत्य संयोजन तथा अविद्या संयोजन।[2]

कामराग संयोजन

कामगुणों में विद्यमान आसक्ति को कामराग कहते हैं। कामराग के बन्धन के कारण सत्त्व ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने पर भी जब पुण्यक्षय से वहां से च्युत होता है तो पुन: कामभूमि में उत्पन्न हो जाता है। यह संयोजन जब तक विद्यमान रहता है, सत्त्व कामभूमि से बंधा रहता है।[3]

रूपराग संयोजन

रूपध्यान के परिणामस्वरूप सत्त्व रूपभूमि को प्राप्त करता है। रूपभूमि में आसक्तिरूप तृष्णा के कारण सत्त्व रूपभूमि के ऊपर नहीं जा सकता है, अतः इसे रूपराग संयोजन कहा जाता है।

अरूपराग संयोजन

अरूपध्यान के परिणामस्वरूप सत्त्व अरूपभूमि में उत्पन्न होता है। अरूप-भूमि में आसक्ति या राग को अरूपराग कहते हैं। जब तक सत्त्व अरूपराग से बद्ध रहता है तब तक वह अरूपभूमि को पार कर आगे नहीं बढ़ सकता है।[4]

पटिघ संयोजन

द्वेषमूल चित्त में व्याप्त द्वेष पटिघसंयोजन है। इस संयोजन के कारण सत्त्व के चित्त में दूसरों के प्रति अनिष्ट करने की भावना रहती है। योगी को आगे बढ़ने के लिये इसका प्रहाण करना आवश्यक है।[5]

1. संयोजेन्ति खन्धगतिभवादीहि खन्धगतिभवादयो,
   कम्मं वा फलेन, तस्मा संयोजनानी ति वुच्चन्ति। (पपञ्च० खण्ड 1, पृ० 207)
   बन्धनट्ठेन संयोजनं (वही, पृ० 93)
2. अभिध० खण्ड 2, पृ० 749।
3. कामनवसेन रज्जनवसेन च कामो येव रागो कामरागो। (अट्ठ० पृ० 294)
4. रूपरागोति रूपभवे छन्दरागो, अरूपरागो ति अरूपभवे छन्दरागो। (अट्ठ०पृ० 195)
5. अनत्थं मे अचरी ति आघातो जायति · यो एवरूपो चित्तस्स आघातो···अयं वुच्चति पटिघसंयोजनं।
   (धम्मसं० पृ० 249-250)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान संयोजन

जिस धर्म के द्वारा सत्त्व अपने को गुण आदि में दूसरों से अधिक मानता है, उसे मान कहते हैं। लोक में सत्त्व श्रेष्ठ, सदृश, तथा हीन होते हैं। इनमें से प्रत्येक सत्त्व को श्रेष्ठ मान, सदृश मान तथा हीनमान—इन तीन नामों से पुकारते हैं। इनमें से श्रेष्ठ सत्त्व का श्रेष्ठ मान, सदृश सत्त्व का सदृश मान तथा हीन सत्त्व का हीन मान यद्यपि स्रोतापत्ति मार्ग में बाधक नहीं होता है किन्तु अर्हत् मार्ग में आरूढ़ होने पर सत्त्व को इस प्रकार के मान का प्रहाण आवश्यक होता है।[1]

दृष्टिसंयोजन

नामरूप धर्मों में आत्मा के अस्तित्व तथा लोकसम्बन्धी धारणा को दृष्टि कहते हैं। दृष्टि के बन्धन से बद्ध सत्त्व उसे नित्य एवं सुख स्वरूप मानता है। दृष्टि संयोजन से बद्ध मनुष्य अन्य संयोजनों से स्वतः ही बद्ध हो जाता है। अतः इसे सबसे अधिक बाधक संयोजन माना गया है।[2] इसलिए विपश्यना भावना में योगी सबसे पहले दृष्टि में विशुद्धि को प्राप्त करता है।

शीलव्रतपरामर्शसंयोजन

शील एवं व्रत का परामर्श करना शीलव्रतपरामर्श है। इसके द्वारा सत्त्व मिथ्या शील एवं व्रत को ठीक समझता है। परिणामतः वह उन मिथ्या शील एवं व्रत में आसक्ति करता है। यह भी एक प्रकार का दृष्टिसंयोजन ही है।[3]

मज्झिमनिकाय के कुक्कुरवत्तिकसुत्त में इसी प्रकार के शील, व्रत का उल्लेख मिलता है जिसे भगवान् बुद्ध ने एक प्रकार की मिथ्यादृष्टि कहा है।[4]

---

1. सेय्योहमस्मी ति मानो, सदिसोहमस्मीति मानो, हीनोहमस्मी ति मानो। यो एवरूपो सम्पग्गाहो केतुकम्यता चित्तस्स -इदं वुच्चति मानसंयोजनं। (वही पृ० 250)
2. सस्सतो लोको ति वा या एवरूपा दिट्ठि दिट्ठिगतं ·· दिट्ठिसंयोजनं गाहो इदं वुच्चति दिट्ठिसंयोजनं। (वही)
3. इतो बहिद्धा समणब्राह्मणानं सीलेन सुद्धि वतेन सुद्धि सीलब्बतेन सुद्धी ति। या एवरूपा··· विपरियासग्गाहो—इदं वुच्चति सीलब्बतपरामाससंयोजनं। (वही, पृ० 251)
4. सचे खो पनस्स एवंदिट्ठि होति—इमिनाहं सीलेन वा इतेन·· देवो वा भविस्सामि देवञ्ञतरो वा ति, सास्स होति मिच्छादिट्ठि। (म० नि० खण्ड 2, पृ० 62)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचिकित्सा संयोजन

पदार्थों का विवेचन करते हुए सत्त्व जिस धर्म से क्लेश को प्राप्त करता है, उसे विचिकित्सा कहते हैं। विचिकित्सा बुद्ध आदि की सत्ता के विषय में तथा नामरूप के अनित्य आदि स्वभावों के विषय में विवेचन करते समय किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता है। इस प्रकार के सत्त्व की ज्ञान रूपी प्रज्ञा से चिकित्सा नहीं की जा सकती है अतः उसे विचिकित्सा कहते हैं। ऐसा सत्त्व संशय से ही ग्रस्त बना रहता है। परिणामतः विचिकित्सा के बन्धन से यह निर्वाण के रास्ते पर आरूढ़ नहीं हो पाता है।[1]

औद्धत्य संयोजन

जो धर्म चित्त को आलम्बन में स्थिर नहीं रहने देता है उसे औद्धत्य कहते हैं। आलम्बन में अस्थिरता करना ही इसका कार्य है। जिस प्रकार वायु के अभिघात से ध्वज, पताका आदि स्थिर नहीं रह पाते हैं उसी प्रकार औद्धत्य से योगी अपने लक्ष्य में स्थिर नहीं रह पाता है। यह भी एक संयोजन है। जब तक योगी औद्धत्य संयोजन का प्रहाण नहीं कर लेता है तब तक वह अपने आलम्बन में दृढ़ नहीं हो सकता है।[2]

अविद्या संयोजन

जानने योग्य धर्मों को न जानना ही अविद्या है। योगी को अपने अर्हत् पद-रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह चार आर्य सत्यों-पूर्वान्त, अपरान्त, पूर्वापरान्त धारणाओं तथा प्रतीत्य समुत्पाद का सही ज्ञान प्राप्त करे। तीन भूमियों में होने वाले सम्पूर्ण नाम-रूप दुःख सत्य है। इन दुःख धर्मों को 'दुःख है' इस प्रकार न जानना दुःख सत्य का आवरण करने वाली अविद्या है। इसी प्रकार तृष्णा को दुःख के कारण के रूप में न जानना, निर्वाण को दुःख निरोध के रूप में न जानना तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग को दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा के रूप में न जानना अविद्या है। इसी प्रकार अतीत भव को न जानना, अनागत भव को न जानना पूर्व तथा अपर भव के स्कन्धों आदि के विषय में न जानना तथा कारण-कार्य को न जानना भी अविद्या है। इस प्रकार चार आर्य सत्य आदि उक्त विषयों का अज्ञान भी सत्त्व के लिये बन्धन का कार्य करता

---

1. सत्थरि धम्मे · संघे·· सिक्खाय कंखति···या एवरूपा कंखा संसयो···इदं वुच्चति विचिकिच्छासंयोजनं। (धम्मसं० 250–251)
2. उद्धरतीति उद्धटं · विक्खित्तं चित्तं, उद्धटस्स पन चित्तस्स · धम्मो उद्धच्चं, तं पन वातेरितं जलं विय धजपताका विय च दट्ठब्बं। (अभिध० खण्ड 1, पृ० 126 की पद टिप्पणी 4)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। कारण, जानने योग्य धर्मों को न जानने से वह संसार में ही फंसा रहता है।[1]

इन दस संयोजनों में से दृष्टिसंयोजन, विचिकित्सासंयोजन, शीलव्रतपरामर्शसंयोजन, कामरागसंयोजन तथा पटिघसंयोजन - ये पांच प्रकार के संयोजन सत्त्व को कामभूमि से ही बांध कर रखते हैं। अतः इन्हें अवरभागीय (ओरम्भागीय) संयोजन कहते हैं। जब तक सत्त्व इन पांच अवरभागीय संयोजनों का विनाश नहीं कर देता है तव तक वह कामभूमि में ही उत्पन्न होता रहेगा। सत्त्व भले ही ब्रह्मभूमि में उत्पन्न हो जाय किन्तु उसके यदि अवरभागीय संयोजन नष्ट नहीं हुए हैं तो उसे वहां से च्युत होकर कामभूमि में ही उत्पन्न होना पड़ेगा।[2]

जब सत्त्व के अवरभागीय संयोजन नष्ट हो जाते हैं तो वह ऊपर की भूमियों से च्युत होकर पुनः कामभूमि में उत्पन्न नही होता है। किन्तु शेष पांच संयोजनों के होने से वह रूपभूमि तथा अरूपभूमि में उत्पन्न होता रहता है। अतः ऊर्ध्व भूमियों से बांधे रखने के कारण रुपराग, अरुपराग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या—इन पांच संयोजनों को ऊर्ध्वभागीय संयोजन कहते हैं।[3]

योगी जब चित्तविशुद्धि के द्वारा आठ समापत्तियों का लाभ कर लेता है तब उसका चित्त ऋजु, मृदु एवं निर्दोष हो जाता है। उसके पश्चात् वह विपश्यना भावना का अभ्यास करता हुआ लोकोत्तर भूमि में प्रवेश करता है। वहां वह अनुभव करता है कि निर्वाण की प्राप्ति में बाधक दस संयोजन अभी विद्यमान हैं और जब तक वे दस संयोजन समूल नष्ट नहीं हो जायेंगे, तब तक निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं हैं। अतः इन संयोजनों को नष्ट करने के लिये वह प्रयास करता है।

स्रोतापत्ति मार्ग

संयोजनों को नष्ट करने के प्रथम प्रयास में वह सत्कायदृष्टि विचिकित्सा एवं शीलव्रतपरामर्श नामक तीन संयोजनों का प्रहाण करने का उद्योग करता है।

1. दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं ··पटिच्चसमुप्पन्नेसु धम्मेसु अञ्ञाणं, यं एवरूपं अञ्ञाणं अदस्सनं इदं वुच्चति अविज्जासंयोजनं। (धम्मसं० पृ० 251–252)
2. ओरं वुच्चति कामधातु। यस्स इमानि पञ्च बन्धनानि अप्पहीनानि होन्ति, सो भवग्गे निब्बत्तो पि गिलितबलिसो मच्छो विय दीघसुत्तकेन पादे बन्धकाको विय तेहि बन्धनेहि आकड्ढियमानो कामधातुयं येव पवत्ततीति पञ्च बन्धनानि ओरम्भागियानी ति वुच्चन्ति। (पञ्च० पृ० 63)
3. उपरिट्ठिमानं संयोजनानं ति उपरिपञ्चन्नं उद्धम्भागियसंयोजनानं··· (वही,)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां सत्कायदृष्टि का अभिप्राय दृष्टिसंयोजन से है। पांच स्कन्धों में आत्मा का ग्रहण करना ही सत्कायदृष्टि है। सत्कायदृष्टि में शाश्वतदृष्टि, उच्छेददृष्टि, नास्तिदृष्टि, अहेतुकदृष्टि एवं अक्रियादृष्टि इन पांच दृष्टियों का समावेश होता है। स्रोतापन्न मार्ग में आरूढ़ होने वाला सत्त्व उक्त तीन संयोजनों के अशेष प्रहाण का उद्योग करता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि योगी दृष्टिविशुद्धि एवं कांक्षावितरणविसुद्धि की भावना करते समय दृष्टि एवं विचिकित्सा संयोजनों को दुर्बल एवं प्रहाण योग्य बना लेता है। किन्तु स्रोतापत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने पर वह उनका अशेष प्रहाण करने को उद्यत होता हैं।[1]

यहां स्रोत का अर्थ है – निर्वाण की ओर जाने वाली धारा। इस धारा में आना ही स्रोतापत्ति और आने वाले सत्त्व को स्रोतापन्न कहते हैं। स्रोतापन्न योगी को निर्वाण उसी प्रकार दृष्टिगोचर होने लगता है जिस प्रकार राजपथ पर विद्यमान पुरुष को राजभवन दिखायी देने लगता है।[2]

स्रोतापत्ति फल

जब निर्वाण को लक्ष्य बनाकर संयोंजनों के प्रहाण करने का इच्छुक योगी दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श तथा विचिकित्सा नामक तीन संयोंजनों कों नष्ट कर देता है तो उसे स्रोतापत्तिफल कहा जाता है। इस फल को प्राप्त करने के बाद योगी कभी भी अपाय भूमि में नहीं जाता है।[3] इसका प्रमुख कारण यह है कि योगी के ईर्ष्या, मात्सर्य आदि स्थूल अकुशल धर्म नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि स्रोतापन्न अवस्था में पहुँचने के पूर्व सत्त्व द्वारा किये गये अपाय को ले जाने वाले कर्म हो सकते हैं किन्तु वे अकुशल कर्म स्वतः अपाय प्राप्त कराने में असमर्थ होते हैं। कारण अपाय को प्राप्त कराने वाले कर्म अपने कार्य में तभी समर्थ होते हैं। जब उन्हें अविद्या, तृष्णा आदि धर्मों का सहयोग प्राप्त हो। किन्तु स्रोतापन्न अवस्था में वह स्थिति नहीं रहती है। अतः स्रोतापन्न किसी भी अवस्था में अपाय भूमि में नहीं जाता है।[4]

स्रोतापन्न सत्त्व नियम से निर्वाण को प्राप्त करता है। किन्तु कितने जन्म लेने के बाद निर्वाण प्राप्त करेगा, यह तथ्य उसकी श्रद्धा, प्रज्ञा आदि इन्द्रियों

---

1. तिण्णं संयोजनानं पहानाय पटिपन्नो पुग्गलोसोतापत्तिफल सच्छिकिरियाय पटिपन्नो।
(पुग्ग॰. पृ॰ 27)

द्रष्टव्य—अभिध॰ (टीका) खण्ड 2, पृ॰ 959–960।

2. निदानकथा, पृ॰ 263।

3. ···तिण्णं संयोजनानं परिक्खया सोतापन्नो अस्सं अविनिपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणो। (म॰ नि॰ खण्ड 1, पृ॰ 45)

4. अभिध॰ (टीका) खण्ड 2, पृ॰ 960।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर निर्भर है। किसी सत्त्व की इन्द्रियाँ मृदु होती हैं तो किसी की तीक्ष्ण। कुछ ऐसे भी सत्त्व होते हैं जिनकी इन्द्रियाँ न तीक्ष्ण होती हैं और न ही मृदु। इन्हीं इन्द्रियों के आधार पर स्रोतापन्न भी तीन प्रकार के होते हैं—मृदु-इन्द्रिय, मध्येन्द्रिय तथा तीक्ष्णेन्द्रिय। मृदु-इन्द्रिय स्रोतापन्न सत्त्व को 'सत्तक्खत्तु परम' मध्येन्द्रिय को कोलंकोल तथा तीक्ष्ण-इन्द्रिय को एकबीजी पुद्‌गल कहा जाता है।[1]

सत्तक्खत्तुपरम पुद्‌गल

सत्तक्खतु का तात्पर्य है सात बार तथा परम शब्द जन्म लेने की अधिकतम सीमा को व्यक्त करता है। सत्तक्खत्तुपरम पुद्‌गल अधिक से अधिक सात बार जन्म लेता है। तत्पश्चात् वह नियम से निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि जिस स्रोतापन्न की इन्द्रियाँ मृदु हैं। वह भी अधिक से अधिक सात भवों में जन्म ग्रहण कर अर्हत् होगा ही। कभी-कभी उससे कम जन्म लेकर भी सकृदागामी हो सकता है। ऐसा पुद्‌गल मनुष्यभूमि और देवभूमि—इन दोनों भूमियों में जन्म लेता हुआ सातवें जन्म में अर्हत् पद प्राप्त कर ही लेता है। यदि वह मनुष्य के रूप में जन्म लेता है तो महाराजा के रूप में होता है तथा यदि देवभूमि में उत्पन्न होता है तो देवेन्द्र के रूप में ही होता है।[2]

कोलंकोल पुद्‌गल

जो पुद्‌गल स्रोतापन्न होकर एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेता हुआ अधिक से अधिक दो या तीन कुलों में जन्म लेता है और इन्हीं जन्मों में वह सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् पद प्राप्त कर लेता है, उस पुद्‌गल को कोलंकोल पुद्‌गल कहते हैं।[3] यहाँ कुल का अभिप्राय उच्च कुल से है। कोलंकोल पुद्‌गल कभी भी निम्न कुल में प्रतिसन्धि या जन्म ग्रहण नहीं करता है।

---

1. सम्मोह० पृ० 433।
2. सो सत्तक्खत्तुं देवे च मानुसे च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करोति।
   (पुग्ग० पृ० 25)

   ···सत्तक्खत्तुं देवेसु देवरज्जं कारेय्य, सत्तक्खत्तुं इमस्मि येव जम्बुदीपे महारज्जं कारेय्य। (अं० नि० खण्ड 1, पृ० 211)

   किन्चा पि ते होन्ति भुसं पमत्ता
   न ते भवं अट्ठममादियन्ति। (खु० नि० खण्ड 1, पृ० 7)
3. सो द्वे वा तीणि वा कुलानि सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्स अन्तं करोति।
   (पुग्ग० पृ० 25)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकबीजी पुद्गल

जो पुद्गल स्रोतापन्न होने के बाद केवल एक ही जन्म ग्रहण करता है और उसी में सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हद् अवस्था को प्राप्त कर लेता है उसे एकबीजी पुद्गल कहते हैं ।[1]

सकृदागामी मार्ग

जब विपश्यनापूर्वक स्रोतापत्ति फल को प्राप्त कर योगी कामराग एवं पटिघ नामक संयोजनों को दुर्बल करने का उद्योग करता है तो उसकी उस अवस्था को सकृदागामी मार्ग कहते हैं ।[2]

सकृदागामी फल

जब योगी कामराग एवं पटिघ संयोजनों को दुर्बल बना देता है तो उसे सकृदागामी फल की अवस्था कहते हैं ।

सामान्यतया केवल एक बार प्रतिसन्धि लेने के कारण इसे सकृदागामी कहते हैं । किन्तु वह कभी-कभी दो जन्म भी ग्रहण करता है । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सकृदागामी पुद्गल के छः प्रकार हो सकते हैं ।[3]

(1) इस मनुष्यभूमि में सकृदागामी होकर इसी भव में अनागामी एवं अर्हत् होकर परिनिर्वाण प्राप्त करने वाला पुद्गल ।

(2) इस मनुष्यभूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय भव में देवभूमि में उत्पन्न होकर वहीं अनागामी एवं अर्हत् होकर परिनिर्वाण करने वाला पुद्गल ।

(3) देवभूमि में सकृदागामी होकर उसी देवभूमि में परिनिर्वाण को प्राप्त करनेवाला पुद्गल ।

(4) देवभूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय भव में इस मनुष्यभूमि में उत्पन्न होकर अनागामी और अर्हत् होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करने वाला पुद्गल ।

(5) इस मनुष्यभूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय भव में देवभूमि में उत्पन्न होकर तृतीय भव में पुनः मनुष्यभूमि में उत्पन्न होकर अनागामी एवं अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त करने वाला पुद्गल ।

---

1. सो एकं येव मानुसकं भवं निब्बत्तेत्वा दुक्खस्सन्तं करोति । अयं वुच्चति पुग्गलो एकबीजी । (वही)
2. वही ।
3. एकच्चो हि इध सकदागामिफलं पत्वा इधेव परिनिब्बायति''' । (पञ्च० पृ० 62–63)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(6) देवभूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय भव में मनुष्यभूमि में उत्पन्न होकर तृतीय भव में पुनः देवभूमि में उत्पन्न होकर अनागामी एवं अर्हत् पद प्राप्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त करना।

उक्त छः भेदों में से अन्तिम दो प्रकार का सकृदागामी पुद्गल दो बार जन्म लेता है। उनमें भी पाँचवें प्रकार का पुद्गल ही मुख्य रूप से सकृदागामी है। क्योंकि वह पुनः एक बार ही अन्य भूमि से मनुष्य भूमि में आता है। अन्य प्रकार कामराग एवं पटिघ को दुर्बल करने के कारण सकृदागामी कहे जाते हैं।

अनागामी मार्ग

जब योगी कामराग तथा पटिघ संयोजनों के पूर्ण विनाश का उद्योग करता है तब उसकी उस अवस्था को अनागामी मार्ग कहते हैं।[1]

अनागामी फल

जब योगी कामराग तथा पटिघ संयोजनों का पूर्णतः विनाश कर देता है तो योगी की उस अवस्था को अनागामी फल कहते हैं।

अनागामी फल को प्राप्त योगी का कामराग नामक संयोजन पूर्णतः नष्ट हो जाता है। अतः वह फिर अगले किसी भी भव में कामभूमि में नहीं आता है। इसीलिए उसे अनागामी पुद्गल कहा जाता है। अनागामी पुद्गल पाँच प्रकार के होते हैं—अन्तरापरिनिब्बायी पुद्गल, उपहच्चपरिनिब्बायी पुद्गल, असंखारपरिनिब्बायी पुद्गल, संसखारपरिनिब्बायी पुद्गल तथा उद्धंसोतो-अकनिट्ठगामी पुद्गल।

अन्तरापरिनिब्बायी पुद्गल

जब अनागामी पुद्गल अवरभागीय पाँच संयोजनों को नष्ट कर औपपातिक होता है। वहाँ उत्पन्न होकर वह शेष पाँच ऊर्ध्वभागीय संयोजनों का विनाश कर अर्हत् अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार का पुद्गल अपनी आयु प्रमाण के मध्य को प्राप्त करने के पूर्व ही आर्यमार्ग को उत्पन्न करता है।[2]

उपहच्च परिनिब्बायी पुद्गल

जब पुद्गल अपनी आयु प्रमाण के मध्य को पार कर आर्य मार्ग को उत्पन्न कर अर्हत् अवस्था को प्राप्त करता है तो उसे उपहच्च परिनिब्बायी पुद्गल कहते हैं।[3]

---

1. पुग्ग०, पृ० 27।
2. वही, पृ० 26।
3. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंखार-संसखार परिनिब्बायी पुद्गल

जब अनागामी पुद्गल मनुष्यभूमि से औपपातिक होकर बिना कष्ट के शेष संयोजनों का प्रहाण कर अर्हत् होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है, तो उसे असंखारपरिनिब्बायी पुद्गल कहते हैं। किन्तु दुःख एवं कष्टपूर्वक शेष संयोजनों का प्रहाण करता है तो उसे संसखार परिनिब्बायी कहते हैं।[1]

उद्धंसोतो अकनिट्ठगामी पुद्गल

जब अनागामी पुद्गल औपपातिक होकर क्रमशः बढ़ता हुआ अकनिट्ठ तक जाता है और तत्पश्चात् आर्य मार्ग की उत्पत्ति के साथ शेष पांच संयोजनों का प्रहाण करता है, उसे उद्धंसोतो अकनिट्ठगामी पुद्गल कहते हैं।[2]

अर्हत् मार्ग

जब योगी शेष पांच ऊर्ध्वभागीय संयोजनों के प्रहाण को उद्यत होता है तो योगी की उस अवस्था को अर्हत् मार्ग कहते हैं।[3]

अर्हत् फल

जब योगी रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या नामक शेष पांच संयोजनों का प्रहाण कर देता है तो उस अर्हत् फल-प्राप्त पुद्गल को अर्हत् कहा जाता है।[4] यही अर्हत् फल विपश्यना भावना की उपलब्धि है।

अर्हत् वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर पुद्गल सभी प्रकार के क्लेशों से दूर हो जाता है, अपने वैरियों एवं संसार चक्र का विनाश कर देता है, चीवर आदि चार प्रत्ययों के योग्य हो जाता है तथा पाप करने में रहस्य नहीं होता हैं। ये सभी अर्थ अर्हत् शब्द की व्युत्पत्ति करते समय किये जाते हैं।[5]

---

1. वही।
2. वही, पृ० 27।
3. रूपराग अरूपरागमानउद्धच्च अविज्जाय अनवसेसप्पहानाय पटिपन्नो पुग्गलो··· । (वही, पृ० 28)
4. यस्स पुग्गलस्स रूपरागो···अविज्जा अनवसेसा पहीना—अयं वुच्चति पुग्गलो अरहा। (वही)
5. आरकत्ता हतत्ता च किलेसारीन सो मुनि।
   हतसंसारचक्कारो पच्चयादीन चारहो।
   न रहो करोति पापानि अरहं तेन वुच्ची ति ॥ (विसु० खण्ड 1, पृ० 420)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारांश यह कि बौद्ध धर्म की योग साधना से इसी भव में सांसारिक दुःखों का एकान्तिक निरोध किया जा सकता है। इसीलिये कहा जाता है कि आओ और स्वयं देख लो।[1] बौद्ध धर्म की यह विपश्यना विधि मनुष्यों को कष्टों से छुटकारा दिलाती है। इसे समझने के लिये किसी अदृश्य की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। इसे तो बुद्धिमान् व्यक्ति स्वयं अनुभव से जान सकता है। जब योगी शान्त हो जाता है, अर्थात् वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब उसको संसार में कुछ और करना बाकी नहीं रहता है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसके लिये उसे किसी तरह का पश्चात्ताप नहीं होता है।[2]

इस प्रकार का अर्हत् जब शरीर-त्याग करता है तो उसका पुर्नजन्म नहीं होता है। कारण, पुर्नजन्म के हेतु तृष्णा तथा अविद्या उसके नष्ट हो चुकते हैं। जिस प्रकार बिजली का बटन ऊपर उठा देने से बिजली की धारा बन्द हो जाती है और बल्ब बुझ जाता है। ठीक उसी प्रकार अविद्या-तृष्णा की धारा समाप्त हो जाने पर जन्म-मरणरूपी बल्ब बुझ जाता है। यहां यह प्रश्न करना निरर्थक है कि जन्म-मरण क्यों नहीं होता? क्योंकि अविद्या तृष्णा के नष्ट होने पर जन्म-मरण का होना सम्भव ही नहीं है।

बौद्ध धर्म में आत्मा का अस्तित्व नहीं माना गया है। प्रत्युत आत्मा के अस्तित्व को संसार-बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है। किन्तु आत्मा को न मानने पर भी बौद्ध धर्म में परलोक के अस्तित्व को माना ही गया है। मन या विज्ञान की सन्तति अच्छे या बुरे कर्मों से प्रभावित होकर अगले भव में अच्छे या बुरे फल को देती है। इसी भाव को धम्मपद की पहली गाथा में व्यक्त किया गया है। जिसके अनुसार सभी अवस्थाओं का पूर्वगामी मन है। उनमें मन ही मुख्य है, वे मनोमय है। जब मनुष्य मलिन मन से बोलता तथा कार्य करता है तो दुःख उसके पीछे ऐसे हो लेता है जैसे गाड़ी के पहिए बैलों के पीछे।[3]

अतः बौद्ध धर्म में इस प्रकार के दुःख-निवृत्ति के लिये विपश्यना के अन्तर्गत आने वाली सात विशुद्धियों के अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है। सम्पूर्ण बौद्ध योग-साधना इन्हीं विशुद्धियों के अभ्यास में निहित है।

★

1. स्वाक्खातो भगवता धम्मो · अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहीति। (म० नि० खण्ड 1, पृ० 50)
2. महावग्गो, पृ० 18।
3. मनोपुब्बगंमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं॥ (खु० नि० खण्ड 1, पृ० 17)

20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

गत पृष्ठों में स्थविरवादी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध धर्म की जिस योग-साधना का विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसका महत्व बुद्ध के काल में जितना था, उतना ही आज भी है। संसार के मनुष्यों को दुःखों से मुक्त होने के उपाय के रूप में योग-साधना को सभी भारतीय धर्मों में प्रमुख स्थान दिया गया है। बौद्ध धर्म में तो दुःख, दुःख के कारण, दुःख का निरोध एवं दुःख के निरोध को प्राप्त कराने वाले मार्ग से सम्बन्धित भगवान् बुद्ध के उपदेश सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने सामान्य व्यक्तियों को जब भी उपदेश दिया है, उसका सम्बन्ध शील या सदाचरण से रहा है। भिक्षुओं को दिये गये उपदेश शील, समाधि एवं प्रज्ञा से ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। यही शील, समाधि एवं प्रज्ञा बौद्ध धर्म की योगसाधना के तीन सोपान हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म की स्थविरवादी परम्परा द्वारा मान्य पालि-त्रिपिटक में सन्निहित भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश योगसाधना से सम्बद्ध हैं। विशेष रूप से वे उपदेश जो उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं को दिये हैं। उन्हीं उपदेशों को आधार बनाकर सामान्य जन को भी समझने के योग्य बनाकर विगत अध्यायों में योग-साधना का निरूपण किया गया है। उससे यह स्वतः सुविदित हो जाता है कि बौद्ध धर्म की योग-साधना मनुष्यों के दुःखों को दूर करने का एक सशक्त उपाय है।

धर्मों में योग-साधना को महत्त्व उपनिषद्-काल से दिया जाने लगा था। वैदिक-काल में मनुष्य सांसारिक दुःखों के निवारण की अपेक्षा सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता था। उस समय मनुष्य प्रकृति के अत्यधिक निकट था। वह प्राकृतिक विपदाओं से बचने के लिये विभिन्न देवताओं की स्तुति करता था। साथ ही अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रकार के यज्ञ करता था। ब्राह्मण-काल में यज्ञ को और भी अधिक महत्व प्रदान किया गया। यह मान्यता जोर पकड़ रही थी कि विधिपूर्वक यज्ञ करने से इच्छा न होने पर भी देवताओं को उपासक का कार्य करना पड़ता था।

कालान्तर में यज्ञ में आयी जटिलता के कारण मनुष्य का ध्यान अलौकिक सत्ता की ओर गया। यह युग उपनिषद् का युग था। उपनिषद् ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उस समय आत्मा के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा था। यह माना जाने लगा था कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में आत्मा है और वह माया के प्रपन्चों में फंस कर संसार में भटकती है। जब आत्मा माया के प्रभाव से मुक्त होती है तो उसका ब्रह्म के साथ मिलान हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पालि/त्रिपिटक से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के समय एक ओर देवताओं की स्तुति तथा यज्ञों का प्रचलन था तो दूसरी ओर आत्मा को ब्रह्म से मिलाने का भी उपदेश दिया जाता था। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के समय कुछ धार्मिक व्यक्ति प्रकृतिपूजक थे तो कुछ आध्यात्मिक उन्नति को महत्व देते थे।

बुद्धकालीन समाज उक्त दोनों ही प्रकार के धार्मिक सिद्धान्तों से त्रस्त था। लोगों को यह अनुभव होने लगा था कि वर्ग विशेष के लोग धर्म के नाम पर अपने स्वार्थ की पूर्ति कर रहे हैं। अतः इन सिद्धान्तों के विरोध में पूरणकाश्यप, अजित-केशकम्बल आदि तीर्थंकर सामने आये। यद्यपि इन तीर्थंकरों का आचार एवं विचार किसी ठोस लक्ष्य को प्रतिपादित नहीं करता था, फिर भी वे समाज में सम्मानित हुए। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है कि उन्होंने मनुष्यों को धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा दी। इतना सब होने पर भी इन तीर्थंकरों की तपश्चर्या काय-क्लेश से परिपूर्ण थी और वह सांसारिक दुःखों के निवारण के लिये उपयुक्त नहीं थी।

ऐसे समय भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग का अन्वेषण किया। उन्होंने संसार को बताया कि न तो भोगों में लिप्त रहने से और न ही काया को क्लेश देने से दुःखों का विनाश हो सकता है। इसके लिये तो मध्यम मार्ग अपनाना चाहिये। मध्यम मार्ग के रूप में उन्होंने आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया।

आर्य अष्टांगिक मार्ग न केवल एक धार्मिक आदेश था अपितु इसमें योग-साधना के तीन सोपानभूत शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विवेचन किया गया है। इन्हीं तीन सोपानों को भगवान बुद्ध की शिक्षात्रय के रूप में जाना जाता है। इनमें से शील प्रथम सोपान है, समाधि मध्यम सोपान तथा प्रज्ञा अन्तिम सोपान है। इसीलिये शील को बौद्ध योग-साधना का आदि, समाधि को मध्य तथा प्रज्ञा को अन्त कहा गया है।

सर्वप्रथम योगी शीलसम्पन्न होकर समस्त पापों से विरक्त होता है। तत्पश्चात् वह समाधि से चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करता है और अन्त में प्रज्ञा के द्वारा सभी संस्कारों के अनित्य दुःख एवं अनात्म स्वभावों को देखता है। शील को धारण करने से योगी की काम-भोगों में लिप्सा समाप्त होती है। समाधि से स्वयं को कष्ट देने वाली विभिन्न तपश्चर्याओं से विरक्ति होती है और प्रज्ञा से मध्यम मार्ग को अपनाने की प्रेरणा मिलती है। फलस्वरूप योगी शील से अपने को दुराचरण से बचाता है, समाधि से तृष्णा तथा प्रज्ञा से दृष्टि की बुराइयों से अपने को अलग करने में समर्थ हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि यदि योगी शील भाग का अभ्यास करता है, तो वह उसका फल पाता है। यदि वह शील के साथ समाधि को परिपूर्ण कर लेता है तो वह समाधिजन्य फल को प्राप्त कर लेता है। किन्तु यदि वह शील, समाधि एवं प्रज्ञा इन तीनों का अभ्यास कर लेता है तो वह सभी दुःखों का विनाश कर लेता है। तात्पर्य यह कि बौद्ध योग-साधना में योगी जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही अधिक फल पाता है।

शील का तात्पर्य है दुराचरण का त्याग। यद्यपि शील पात्र-विशेष से अलग-अलग होता है किन्तु योग-साधना हेतु योगी को चार शीलों का अभ्यास करना होता है। ये चार शील हैं—प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसन्निश्रितशील। इन चार प्रकार के शीलों के द्वारा योगी संयत जीवन व्यतीत करते हुए अपने अन्दर अल्पेच्छता, सन्तुष्टि आदि ऐसे गुणों का विकास करता है जो उसकी योग-साधना के लिये आवश्यक होते हैं। यदि योगी शील का ठीक तरह से पालन न कर पा रहा हो तथा यदि उसके मन में सांसारिक आसक्ति समाप्त नहीं हो पा रही हो, तो उसे धुतांगों को ग्रहण कर अपने शील को परिशुद्ध बनाना चाहिये। सुपरिशुद्ध शील ही योग-साधना का आधार है। अतः योगी को शील में परिशुद्ध होना नितान्त आवश्यक होता है।

शील-सम्पन्न भिक्षु समाधि का अभ्यास करता है। समाधि का तात्पर्य है–किसी एक आलम्बन में चित्त तथा चैतसिक धर्मों को प्रतिष्ठित करना। चित्त स्वभाव से ही चंचल होता है। वह सर्वदा यहाँ-वहाँ जाकर सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त होता है। अतः यह आवश्यक है कि चित्त को किसी एक आलम्बन में बाँध कर रखा जाये। यही कार्य समाधि द्वारा सम्पन्न होता है।

चूँकि चित्त की एकाग्रता में पाँच धर्म विघ्न उपस्थित करते हैं, अतः योगी इन पाँच नीवरण नामक धर्मों को शान्त करता है। ये पाँच नीवरण हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य एवं विचिकित्सा। ये नीवरण एक ओर विषयों में अनुराग उत्पन्न करते हैं तो दूसरी ओर योग-साधना में प्रवृत्त योगी को निरूत्साहित करते हैं। पाँच नीवरणों के शान्त हो जाने पर योगी के मन में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानांगों का प्रादुर्भाव होता है। वितर्क चित्त को आलम्बन की ओर ले जाता है। विचार उसे आलम्बन में स्थिर करता है। प्रीति शरीर में रोमांच उत्पन्न करती है, तत्पश्चात् काय सुख एवं चित्त सुख उत्पन्न होता है। एकाग्रता से चित्त नियंत्रित होता है। जब योगी ध्यान का अभ्यास करता है तो उसका चित्त स्थूल ध्यानांगों को छोड़ता हुआ सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रज्ञा से योगी धर्मों के अनित्यादि स्वभावों को जानता है। इससे योगी के चित्त में विद्यमान अज्ञान नष्ट होता है और वह प्रज्ञा द्वारा चार आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रज्ञा मूलतः दो प्रकार की होती है- 'लौकिक एवं लोकोत्तर'। इनमें से लौकिक प्रज्ञा कामभूमि, रूपभूमि एवं अरूप-भूमि से सम्बन्धित होती है। जबकि लोकोत्तर प्रज्ञा दुःख-निरोध के मार्ग पर आरूढ़ करती है। योगी का लक्ष्य लोकोत्तर प्रज्ञा की प्राप्ति होता है।

समाधि द्वारा नीवरणों की शान्ति होने से उसे शमथ तथा प्रज्ञा द्वारा पदार्थों को विशेष रूप से देखने के कारण उसके लिये विपश्यना शब्द का प्रयोग किया जाता है।

शमथ भावना का अभ्यास करने वाला योगी 40 प्रकार के कर्मस्थानों में से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाकर चित्त की एकाग्रता की साधना करना है। चालीस कर्मस्थान में कौन-सा कर्मस्थान साधक के लिये हितावह होगा—इसका विनिश्चय बड़ी सावधानी से किया जाता है। इतना ही नहीं अपितु कर्मस्थान को ग्रहण करने के पूर्व भी साधक के लिये कुछ निर्देश दिये गये हैं। उदाहरणस्वरूप जब कोई भिक्षु शमथ-भावना करने की इच्छा करता है तो सर्वप्रथम उसे दस विघ्नों का निवारण करना चाहिये। इन दस विघ्नों में आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आबाध ग्रन्थ तथा ऋद्धि का समावेश होता है। यदि उक्त दस विघ्नों का ठीक से परिहार न किया जाय, तो साधना-काल में ये साधक को विचलित कर सकते हैं।

विघ्नों का उपच्छेद कर साधक को उपयुक्त कर्मस्थान ग्रहण करने के लिये कर्मस्थान-दायक के पास जाना चाहिये। साधक को इस बात का ध्यान रखना होता है कि उसके किसी प्रकार के व्यवहार से कर्मस्थान-दायक रूष्ट न हो। अतः साधक कर्मस्थान-दायक आचार्य की उसी प्रकार सेवा करे जिस प्रकार एक अन्तेवासी अपने आचार्य की करता है। जब आचार्य प्रसन्न होकर आने का कारण पूछे तभी उसे अपना उद्देश्य बताना चाहिये। यदि कदाचित् आचार्य साधक से आने का प्रयोजन न पूछे तो उसे उचित अवसर पर ही अपना अभीष्ट कहना चाहिये। साधक को आचार्य के समक्ष अपने आत्मभाव का परित्याग कर देना चाहिये। इस विधान के पीछे यही कारण विद्यमान रहता है कि अच्छे प्रकार से दिये गये कर्मस्थान को ग्रहण कर ही साधक अपनी साधना कुशलता-पूर्वक परिपूर्ण कर सकता है।

इस प्रसंग में कर्मस्थानदायक की भी प्रमुख भूमिका होती है। उसे साधक के चरित को समझकर ही अनुकूल कर्मस्थान का निर्धारण करना होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्यों में कुछ ऐसे होते हैं जिनकी प्रकृति रागात्मक होती है, कुछ की प्रकृति द्वेषात्मक होती है। प्रकृति के आधार से मनुष्यों को स्थूलरूप से छः भागों में विभक्त किया जाता है—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धि-चरित एवं वितर्कचरित। चर्या के विनिश्चय के लिये स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं। यह विनिश्चिय साधक की चाल-ढाल, कृत्य, भोजन, दर्शन या धार्मिक प्रवृत्ति के आधार पर किया जा सकता है। तत्पश्चात् कर्मस्थानदायक साधक के चरित के लिये उपयुक्त कर्मस्थान का उपदेश देता है। यदि कोई साधक रागचरित है तो उसे ऐसा कर्मस्थान उपयुक्त होता है जो उसके राग का अनर्थ न करने दे। फलतः उसे दस अशुभ तथा कायगता स्मृति में से ही कोई एक कर्मस्थान दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य चरित के साधकों को उसके अनुकूल कर्मस्थान दिया जाता है।

कर्मस्थान ग्रहण करने के उपरान्त साधक अयोग्य बिहार का परित्याग कर योग्य विहार में जाता है और वहाँ साधना प्रारम्भ करने के पूर्व ऐसे छोटे-मोटे विघ्नों का परिहार करता है जिनसे साधना में अन्तराय आ सकता हो। इस प्रकार के विघ्नों में मैला पात्र या चीवर, बढ़े हुए नख या केश तथा जीर्ण-शीर्ण चीवर आते हैं। साधना के पूर्व इन विघ्नों को शान्त कर लेने से साधक की एकाग्रता की साधना आसान हो जाती है।

कर्मस्थान ग्रहण करने के उपरान्त योगी भोजनोपरान्त किसी एकान्त स्थान पर बैठकर अपने कर्मस्थान को चित्त-एकाग्रता के लिये निमित्त बनाकर भावना करता है। उदाहरणस्वरूप पृथ्वीकसिण को ग्रहण कर योगी निश्चित आकार के पृथ्वीकसिण का मण्डल बनाकर उसे ही तब तक देखता है जब तक कि वह आँख बन्द करने पर भी उसी प्रकार न दिखने लगे जिस प्रकार आँख खोलने पर दिखाई देता है। इसके बाद योगी के ध्यान में पृथ्वीकसिण मण्डल स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। इस अवस्था में उसके नीवरण धर्मों का प्रहाण होता है और योगी शमथ-भावना की उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता है। जब स्वच्छ और स्पष्ट दिखाई देने वाले प्रतिभाग निमित्त की उपलब्धि हो जाती है तो योगी को निरन्तर भावना कर उस प्रतिभाग निमित्त की सुरक्षा करना चाहिये। बार-बार ध्यान करने से ही योगी को अर्पणा समाधि प्राप्त होती है। यदि फिर भी अर्पणा समाधि की उपलब्धि न हो तो योगी को निश्चित उपायों से उसे प्राप्त करना चाहिये।

शमथ-भावना-विधि से जब योगी समाधि अथवा चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है तो उसे चार रूपध्यान और चार अरूपध्यानों की उपलब्धि हो सकती है। इन आठ प्रकार के ध्यानों को आठ समापत्तियों के रूप में जाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। चार रूपध्यानों में आलम्बन एक ही होता है किन्तु योगी आलम्बन के स्थूल रूप से सूक्ष्म की ओर जाता है। अतः चार रूप-ध्यानों को रूप समाधि की चार अवस्थायें कह सकते हैं। प्रथम अवस्था में योगी के ध्यान में पाँचों ध्यानांग अर्थात् वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय अवस्था में वितर्क एवं विचार लुप्त हो जाते हैं। अतः यहाँ केवल तीन ध्यानांग ही रहते हैं। तृतीय अवस्था में प्रीति भी हट जाती है। इस ध्यान में केवल सुख एवं एकाग्रता ही विद्यमान रहते हैं। चतुर्थ अवस्था में सुख के स्थान पर उपेक्षा आ जाती है। चूँकि रूपध्यानों में आलम्बन एक ही रहता है, अत इन्हें एक ही ध्यान की चार अवस्थायें कहा गया है।

अरूप-समाधि की भी चार अवस्थायें होती हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। इन सभी अवस्थाओं में केवल दो ही ध्यानांग रहते हैं—उपेक्षा तथा एकाग्रता। किन्तु प्रत्येक अवस्था में ध्यान का विषय बदलता रहता है। प्रथम अवस्था में ध्यान का विषय अनन्त आकाश होता है जब कि द्वितीय अवस्था में ध्यान का विषय अनन्त विज्ञान होता है। इसी प्रकार तृतीय एवं चतुर्थ अवस्था में ध्यान का विषय आकिञ्चन्य तथा नैवसंज्ञानासंज्ञा होता है।

यही रूपसमाधि एवं अरूपसमाधि की चार-चार अवस्थायें शमथ भावना की उपलब्धियाँ कही जाती हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें आठ समापत्तियाँ भी कहते हैं। उक्त समापत्तियों को प्राप्त करने के उपरान्त योगी के अन्दर ऋद्धिविध दिव्यश्रोत्र, परचित्तविजाननशक्ति, पूर्वनिवासानुस्मृति तथा दिव्यचक्षु नामक अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। इसके अतिरिक्त आठ समापत्तियों पर पूर्ण अधिकार करने के बाद योगी विपश्यना भावना का अभ्यास करने को उद्यत होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म में चित्त की एकाग्रता के साथ आठ समापत्तियों एवं अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति ही योगी के लिये पर्याप्त नहीं है। कारण, इससे योगी अर्हत् अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है। अर्हत् अवस्था के लिये योगी को शीलविशुद्धि एवं चित्तविशुद्धि के बाद दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि तथा ज्ञानदर्शनविशुद्धि—इन पाँच विशुद्धियों को प्राप्त करता है। इन्हें प्राप्त करने की विधि को ही विपश्यना भावना विधि कहते हैं।

विपश्यना द्वारा योगी शरीर के अन्दर आत्मा के विद्यमान होने की मिथ्या धारणा को हटाकर नामरूप से सम्बन्धित विभिन्न शंकाओं का निवारण करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। तत्पश्चात् वह सम्मर्शनज्ञान, उदयव्ययज्ञान, भंगज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान, मुञ्चितुकम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान एवं संस्कारोपेक्षाज्ञान के बाद अनुलोमज्ञान प्राप्त करता है। इसी अनुलोमज्ञान को व्युत्थानगामिनी विपश्यना भी कहते हैं।

अनुलोमज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर योगी उस धारा में आ जाता है जो निर्वाण की ओर जाती है। तत्पश्चात् वह उस धारा में शीघ्रता से आगे बढ़ने लगता है। कुछ समय बाद वह इतना आगे बढ़ जाता है कि उसका कामभूमि में लौटना सम्भव नहीं रह जाता है। अन्त में वह समस्त संयोजनों का प्रहाण कर अर्हत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अर्हत् की मरने के बाद चित्त-सन्तति निरूद्ध हो जाती है। यही विपश्यना भावना की उपलब्धि है। उक्त चार अवस्थाओं को स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत् की अवस्थायें कहते हैं। जब योगी उक्त अवस्थाओं में से जिस अवस्था में पहुँचने के लिये उद्योग करता है तब वह स्थिति, उस अवस्था की मार्ग-स्थिति कहलाती है और पहुँचने के बाद वही फलस्थिति कहलाती है। उदाहरणस्वरूप स्रोत में पहुँचने के लिये उद्योग करने वाला योगी स्रोतापत्ति मार्ग में स्थित कहलाता है और जब वह स्रोत में आ जाता है तब उसे स्रोतापत्ति फल में स्थित योगी कहते हैं।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में योग-साधना का प्रारम्भ शील से होता है और अन्त समस्त संयोजनों को नष्ट कर अर्हत् फल की प्राप्ति से होता है।

बौद्ध धर्म की योग-साधना का उद्देश्य सांसारिक दुःखों का विनाश करना है। इसमें अलौकिक शक्ति को प्राप्त कर उसे जन-समूह के समक्ष दिखाने को हेय दृष्टि से देखा गया है। इस योगसाधना का क्रम अत्यन्त व्यावहारिक है। इसमें किसी टोना-टोटका या अन्धविश्वास को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया गया है।

आज के वैज्ञानिक युग में बौद्ध धर्म की योग-साधना का अत्यधिक महत्त्व है। कारण, आज का मनुष्य तरह-तरह के मानसिक तनावों से ग्रस्त होता है और इन्हीं तनावों के चलते उच्च रक्तचाप, पक्षाघात आदि विभिन्न रोग जन्म लेते हैं। यदि सामान्य मनुष्य भी बौद्ध योग-साधना का सहारा ले तो वह अनायास ही अनेक रोगों से मुक्त हो सकता है।

गोयनका द्वारा इगतपुरी में चलाये जा रहे विपश्यना-शिविर इस बात के ज्वलन्त साक्षी हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी से प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मासिक पत्रिका 'विपश्यना', में ऐसी अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं जो विपश्यना से घटित हुई हैं।

बौद्ध धर्म की यही योग-साधना आज न केवल भारतवर्ष में ही लोकप्रिय हो रही है अपितु विश्व के अन्य समृद्ध देशों में भी इसी योगसाधना के कारण बौद्ध धर्म के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि एक समय सारे विश्व में इस व्यावहारिक बौद्ध योगसाधना को सांसारिक दुःखों एवं तनावों से मुक्त करने के लिए अपनाया जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधार-ग्रन्थ-सूची

अंगुत्तरनिकाय-पालि, खण्ड 1 (एक्क-दुक-तिक निपाता) : नालन्दा–देवनागरी–पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार 1960।

अंगुत्तरनिकाय-पालि, खण्ड 2 (चतुक्क-पञ्चक निपाता) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1960।

अंगुत्तरनिकायपालि, खण्ड 3 (छक्क-सत्तकट्ठक निपाता) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1960।

अंगुत्तरनिकायपालि, खण्ड 4 (नवक-दसक-एकादस निपाता) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा बिहार, 1960।

अट्ठासलिनी : भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इण्स्टीच्यूट, पूना—4, 1942।

अभिधम्मत्थसंगहो, खण्ड 1 (अभिधर्म प्रकाशिनी व्याख्या के साथ) : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी–2, 1967।

अभिधम्मत्थसंगहो, खण्ड 2 : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी–2, 1967।

अभिधम्मत्थविभाविनी (अभिधम्मत्थसंगहटीका) : महामकुटराज विद्यालय, स्यामरट्ठ— 1973

अभिधानप्पदीपिका : सम्पादक-स्वामी द्वारकादास शास्त्री बौद्ध भारती, वाराणसी, 1981।

उत्तराध्ययनसूत्र : श्री अ० भा० साधु मार्गी जैन संस्कृत रक्षक संघ, सैलाना, म० प्र०, वीर संवत् 2489।

कठोपनिषद् : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1982।

खुद्दकनिकाय (सात खण्डों में) : नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1959।

चुल्लवग्ग-पालि : नालन्दा-देवनागरी-पालि ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1956।

जैन-धर्म-दर्शन : डा० मोहन लाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी–5 1973।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-खण्ड 1 : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी–5, 1966।

तत्त्वार्थसूत्र : विवेचनकर्ता–पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी घाट, बनारस, वी०नि०सं०–2476।

थेरी गाथाएँ : अनु० डा० भरत सिंह उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–7, 1967।

दीघनिकाय-पालि, खण्ड 1 (सीलक्खन्धवग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा,विहार, 1958।

दीघनिकाय-पालि, खण्ड 2 (महावग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1958।

दीघनिकाय-पालि, खण्ड 3 (पाथिकवग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1958।

द्रव्यसंग्रह : टीकाकार—पं० अमृतलाल, दर्शन-साहित्याचार्य, सद्‌बोध रत्नाकर कार्यालय, लक्ष्मीपुरा, सागर (म० प्र०), 1968।

धम्मसंगणि-पालि : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1960।

धातुकथा-पुग्गलपञ्ञत्ति-पालि : नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा विहार, 1960।

निदानकथा (जातकट्ठकथायमागता) : डा० महेश तिवारी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–1, 1970।

नेत्तिप्पकरणं : पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1902।

पञ्जमधु : सम्पादक – डा० कोमलचन्द्र जैन, तारा बुक एजेन्सी, कमच्छा, वाराणसी–10, 1989।

पच्चप्पकरण-अट्ठकथा, खण्ड 1 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1968।

पच्चप्पकरण-अट्ठकथा, खण्ड 2 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1971।

पच्चप्पकरण-अट्ठकथा, खण्ड 3 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1972।

पटिसम्भिदामग्ग-पालि (खुद्दक निकाय खण्ड 5) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1960।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पपञ्चसूदनी, खण्ड 1 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1975।

पपञ्चसूदनी, खण्ड 2 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1978।

पातंजल योगदर्शनम् : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी 1970।

पालि-इङ्गलिश डिक्शनरी : पालि-टेक्स्ट-सोसाइटी, लन्दन, 1959।

प्राचीन भारत : डा० राजबली पाण्डेय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी सं० 2023।

प्राचीन भारत की संस्कृति : यूनाइटेड बुक डिपो, 21, यूनिवर्सिटी रोड,इलाहावाद, 1985।

प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक् दृष्टि : लेखक—विज्ञान भिक्षु, विपश्यना ध्यान केन्द्र, मलदहिया, वाराणसी 1987।

बुद्ध का प्रथम सन्देश : बौद्ध स्वाध्याय सत्र, मलदहिया, वाराणसी, 1970।

बुद्धचर्या : महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1952।

बुद्धिस्ट स्टडीज : बी० सी० ला, टेकर स्पिक एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता, 1931।

बृहद् हिन्दी कोश : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं० 2020।

बौद्ध-दर्शन-मीमांसा : पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1978।

बौद्ध धर्म-दर्शन : आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—3, 1956।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, -भोपाल, 1962।

मज्झिमनिकाय-पालि, खण्ड 1 (मूलपण्णासकं) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1958।

मज्झिमनिकाय-पालि, खण्ड 2 (मज्झिमपण्णासकं) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1958।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मज्झिमनिकाय-पालि, खण्ड 3 (उपरिपण्णासकं) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1958।

महावोधिवंसो : पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1891।

महावग्ग-पालि : नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1956।

मिलिन्दपन्ह-पालि : वौद्ध भारती, वाराणसी--1, 1979।

मुण्डकोपनिषद् : 108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड के अन्तर्गत, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1988 ।

विपश्यना (जर्नल) : विपश्यना विशोधन विन्यास हैदरावाद, 1985।

विपश्यना-पद्धति : लेखक—अनागारिक मुनीन्द्र, भिक्षु सुगतानन्द, वुद्ध कुटी, सई नदी के किनारे, प्रतापगढ़ (अवध), 1966 ।

विभंगपालि : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1960।

विशुद्धिमार्ग, खण्ड 1 : अनुवादक—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, 1957।

विशुद्धिमार्ग, खण्ड 2 : अनुवादक—धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1957।

विसुद्धिमग्गो, खण्ड 1 (परमत्थमञ्जूसानाम विसुद्धिमग्ग-महाटीकासहितो) : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी–2, 1969।

विसुद्धिमग्गो, खण्ड 2 (परमत्थमञ्जूसानाम विसुद्धिमग्ग-महाटीका सहिता) : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी–2, 1969 ।

विसुद्धिमग्गो, खण्ड 3 (परमत्थमञ्जूसानाम विसुद्धिमग्ग-महाटीकासहितो) : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी–2, 1972 ।

संयुत्तनिकाय-पालि, खण्ड 1 (सगाथवग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1959।

संयुत्तनिकाय-पालि, खण्ड 2 (निदानवग्गो खन्धवग्गो च) ; नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, विहार, 1959।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयुक्तनिकाय-पालि, खण्ड 3 (संज्ञायतनवग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1959।

संयुत्तनिकाय-पालि, खण्ड 4 (महावग्गो) : नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1959।

सतिपट्ठान विपश्यना : लेखक—डा० श्याम किशोर वशिष्ठ महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1973।

समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा खण्ड 1 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1964।

समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा, खण्ड 2 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला नालन्दा, बिहार, 1965।

समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा, खण्ड 3 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1967।

सम्मोहविनोदनी नाम विभंगट्ठकथा : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1961।

सुमंगलविलासिनी, खण्ड 1 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1974।

सुमंगलविलासिनी, खण्ड 2. : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1975।

सुमंगलविलासिनी, खण्ड 3 : नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, 1976।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत–विवरण

अं० नि०	: अंगुत्तरनिकाय-पालि
अट्ठ	: अट्ठसालिनी
अभिध०	: अभिधम्मत्थसंगहो
अभिध० (टीका)	: अभिधम्मत्थसंगहो की अभिधर्म प्रकाशिनी टीका
अभिधा०	: अभिधानप्पदीपिका
उत्तरा०	: उत्तराध्ययनसूत्र
कठो०	: कठोपनिषद्
खु० नि०	: खुद्दकनिकाय-पालि
गा०	: गाथा
चुल्ल०	: चुल्लवग्ग-पालि
दी० नि०	: दीघनिकाय-पालि
धम्म सं०	: धम्मसंगणि-पालि
पुग्ग०	: पुग्गलपञ्ञत्ति
नेत्ति०	: नेत्तिप्पकरण
पंच०	: पञ्चप्पकरण-अट्ठकथा
पटि०	: पटिसम्भिदामग्ग-पालि
पपंच०	: पपञ्चसूदनी
पात०	: पातञ्जल
पृ०	: पृष्ठ
म० नि०	: मज्झिमनिकाय-पालि
मिलिन्द०	: मिलिन्दपन्ह-पालि
विसु०	: विसुद्धिमग्गो
विसु० (परम०)	: विसुद्धिमग्गो परमत्थमञ्जूसा नाम विसुद्धिमग्ग-महाटीका सहितो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सं० नि०	: संयुत्तनिकाय-पालि
समन्त०	: समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा
सम्मोह०	: सम्मोहविनोदनी नाम विभंगट्ठकथा
सुमंगल०	: सुमंगलविलासिनी

श्री ग. व. दि. जैन (शोध) संस्थान
क्र. सं. 4536
दिनांक 8-8-99
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्य डॉ० डोडमगोड रेवत थेरो

महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया के उपमहामंत्री एवं मूलगंध कुटी विहार, सारनाथ वाराणसी के विहाराधिपति डॉ० डोडमगोड रेवत की प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा क्रमशः डोडमगोड महाविद्यालय कलुतर एवं श्रीलंका के सुमंगल परिवेन में हुई।

अपनी उच्च शिक्षा उन्होंने श्रीलंका स्थित विद्योदय से प्राप्त किया। विद्योदय से "त्रिपिटकाचार्य" की उपाधि प्रथम श्रेणी में हासिल किया। यहीं से उन्होंने सिंहली, पालि, संस्कृत आदि भाषाओं का भी पूर्ण रूप से अध्ययन किया। त्रिपिटकाचार्य में अभिधर्म विषय पर उन्होंने कई वार प्रथम श्रेणी का पुरस्कार भी प्राप्त किया है।

वाद में भारतीय महाबोधि सभा की सेवा में सम्मिलित हुए। १२ साल तक महाबोधि विद्या परिषद के संयुक्त सचिव पद पर कार्यरत रहे। वर्तमान में महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया के उपमहामंत्री के रूप में आपका नेतृत्व प्राप्त है। भाषा और धर्म के बारे में व्याख्यान देने के लिये इटली, सिंगापुर, जापान जैसे देश आमंत्रित इन्हें कर चुके हैं।

१९८६ में इटली स्थित "असिसि" नामक स्थान में पोप जॉन पाल की अध्यक्षता में हुए द्वितीय विश्वशांति सर्वधर्म सम्मेलन में थेरवाद का इन्होंने नेतृत्व किया।

१९८४ से वाराणसी स्थित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला संकाय के विदेशी भाषा विभाग में सिंहली अध्यापक के रूप में कार्यरत हैं। इनकी शिक्षा तथा धर्म संबंधी पुस्तकें जो अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. वाराणसियं इसिपतने (सिंहल)
२. जम्बुद्वीप में बौद्ध तीर्थस्थान "तीसरा संस्करण" (सिंहल)
३. बुद्धाज़ फर्स्ट एण्ड लास्ट सर्मन्स "द्वितीय संस्करण" (अंग्रेजी)
४ हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज़्म इन जापान (सिंहल)
५. हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज़्म इन चाइना (सिंहल)
६. हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज़्म इन इण्डिया (सिंहल)
७. विपश्यना भावना (हिन्दी)
८. पालि पाठमाला (पालि)
९. द लोटस पाथ (अंग्रेजी)
१०. सिंहली भाषा का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)
११. थेरवाद बौद्ध धर्म में योग और साधना (शोध-प्रबन्ध)

उनके दिशा-निर्देशन से मार्च १९९२ में सारनाथ में द्वितीय बुद्धिष्ट कांग्रेस का अधिवेशन सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

मापलगम विपुलसार महास्थविर
महासचिव
महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi